॥ श्रीकनकभवन विहारिणी विहारिणौ विजयेते ॥

❀

—: श्री :—

सिद्धान्त-मुक्तावली

रचयिता :—

रसिकाचार्य रत्न श्रीजनकराजकिशोरीशरणजी महाराज

उपनाम- श्रीरसिकअलिजी

टीकाकार :—

शत्रुहन शरण

'रसिकबिहारी' त्रिपुरारि की पियारी उमा

नित्य स्वर्न मन्दिर मैं स्वर्न दीप वारतीं।

कोटि कामदेव की रती लैकर मार्जनी कौ

जनकलड़ैती जू को आँगन बुहारतीं॥

वृन्दावन वैकुण्ठ सब, तिनकर अवध निदान।

अवध प्रभाके अंशते, होत सवै प्रभमान॥८६॥

शब्दार्थ :—वैकुण्ठ सब=पाँच वैकुण्ठ प्रसिद्ध हैं। १–क्षीरसिन्धु, २–रमावैकुण्ठ, ३-कारणवैकुण्ठ, ४–महावैकुण्ठ और ५–श्रीसाकेत। निदान=कारण। प्रभा=प्रकाश।

भावार्थ :–श्रीवृन्दाबनसे लेकर उपर्युक्त चारों वैकुण्ठों के उत्पन्नकर्त्ता श्रीअवध (साकेत) धाम हैं।

परमप्रकाशमय धाम श्रीअवधके प्रकाशांश पाकर सभी प्रकाशपूर्ण बने हैं।

वेद बीच विदित विभाग पाँच धाम नाम

क्षीरसिंधु प्रथम रमानिकेत जानिये।

कारन प्रसिद्ध सुवैकुण्ठ महा नाम तिमि

विरजाके पार अविकार धाम मानिये॥

अवध अखंड अदुतिय अंस पाँच थल

अमल प्रसंस हंस वदत प्रमानिये।

युगल अनन्य रामरहस ललाम धाम

समता न आन लोक भूलिहूँ के आनिये ॥

सुन्दर नारिन रूप धरि, यावत भगवत धाम ।

अवध युगल पद सेइ कै, होत रहित परिनाम ॥६०॥

शब्दार्थ :—परिनाम=अन्त, नाश ।

भावार्थ :—श्रीसाकार अयोध्यापुरी का ध्यान है । सभी मुक्तिपुरियोंकी स्वामिनी श्रीअयोध्या भगवती दिव्यमहारानी रूप में राजसिंहासनासीन हैं । शेष सभी पुरियाँ रमणी रूपधारण कर, छत्र, चँवर, व्यञ्जनादि सेवा सौज लिये आपकी परिचर्यामें समुपस्थित हैं । प्रलयान्तमें इनका भी नाश नहीं होता, क्योंकि अविनाशिनी अयोध्यापुरीकी चरण परिचर्या प्रभावसे ये भी अविनाशिनी हो गई हैं ।

मथुराद्याः सर्वपुर्यो ह्ययोध्यापुर दासिकाः ।

अयोध्यामेव सेवन्ते प्रलये प्रलयेऽपि च ॥

— श्रीराम नवरत्नसार संग्रह ।

अविनश्वरमेवैकमयोध्यापुरमद्भुतम् ।

तत्रैव रमते नाथ ह्यानन्दरस प्लावितः ॥

— श्रीशुक संहिता ।

कोसला प्रभाव परमेश ते अभेद देखि

सेवे सबलोक दिव्य भव्य गुन गाय कै ।

जेते तमपार थल विमल प्रयाग आदि
जोरे रहे कञ्ज कर किंकर कहाय कै ॥
कासी मधुपुरी हरिद्वार द्वारिका हू तिमि
कांची कमनीय त्यों अवन्तिका सुभाय कै ।
'युगल अनन्य' आठोयाम मद्मान गत
जोहती हमेश औध सुमुख सोहाय कै ॥

अवध मोदके अंश को, अंश वसत गोलोक ।
ताके कोटिन अंश को, कोटिन सुरपति ओक ॥६१॥

शब्दार्थ :—मोद = आनन्द, सुगन्ध ।

भावार्थ :—श्रीअयोध्यानगरी सच्चिदानन्दमयी है, इनमें १-सदांश, २-चिदांश तथा ३-आनन्दांश इतने अधिक हैं कि इन्हें जो 'आनन्दसिन्धु सुखराशी' आदि कहनाभी थोड़ा लगता है । चिदांश ही प्रकाश है । ऊपरके दोहा ८६ में श्रीअवधके प्रकाशसे सब धामोंका प्रकाशमान होना कहा गया। इस दोहेमें श्रीअवधके आनन्दसे तथा सुगन्धसे गोलोक को आनन्द-सुगन्ध सम्पूर्ण होना बताते हैं, क्योंकि इन्हींके अंश है। गन्घ प्रकाश-विशिष्ट देवेन्द्रकी अमरावती तो अंशांश कण मात्र है ।

सतचित आनन्द तीनोंसे घनीभूत श्रीअयोध्याको कई स्थलोंमें कहा गया है—

सच्चिद्घनानन्दमयीमयोध्यां श्रीरामरूपां शरणं प्रपद्ये ।
— रत्न मञ्जरी ।

अथ श्रीरामचन्द्रस्य यद्धाम प्रकृतेः परम् ।
सच्चिद्घन परानन्दं नित्यं साकेत संज्ञकम् ॥
यदंशवैभवा लोका वैकुंठाद्याः सनातनाः ॥
— वशिष्ट संहिता ।

यथा अवध मिथिला तथा, सुख सुषमा मरयाद ।
इनहि सदा उर धारिये, त्यादि सर्वे इमिसाद ॥६२॥

शब्दार्थ :—सुषमा=शोभा । मरयाद (मर्याद)=सीमा इमि (सं०)=इस प्रकारके । साद (शाद फा०)=आनन्द ।

भावार्थ :—श्रीअयोध्याके सुख, शोभा, मर्यादाका जैसा वर्णन किया गया है, उतनीही सब वस्तु श्रीमिथिलाकी भी समझनी चाहिये । एकही सच्चिदानन्दमयी पुरीका द्विधा रूप है जो । तत्वतः अभेद है । अतः इन दोनोंका, या किसी एक का भी ध्यान हृदयमें सदैव धारण किये रहना चाहिये । इसप्रकार के अन्यान्य धामोंके सुख प्रलुब्ध करे तो उसे त्यागकर श्रीधामानन्य बने रहें ।

यथाऽयोध्यापुरी नित्या मिथलापि तथा स्मृता ।
सर्वैश्वर्य गुणैर्वापि नायोध्यातः पृथग्मताः ॥
— वृहद् विष्णु पुराणे ।

❀ आर्या छन्द ❀

यदिह मयोक्तं सर्वं विद्धिमतं तन्मारुतेश्च परमम् ।
सर्वेषां रसिकानाञ्च सीतारामार्पित चेतसाम् ॥६३॥

शब्दार्थ:--यदिह (यत्+इह)=जो कुछ यहाँ। मयोक्तं (मया+उक्तं =मेरे द्वारा कहे गये हैं। विद्धि=जानना। तन्मारुतेश्च (तत्+मारुतेः+च) = वह सब श्रीहनुमत-लालजू का।

भावार्थ :--इस ग्रन्थके पूर्वार्द्ध में मैंने (श्रीरसिकअलि-जीने) जो कुछ कहा है, वह सभी परम सिद्धान्त श्रीहनुमत-लालजूका है तथा श्रीसीतारामको सदैव चित्तमें ध्यान धरने वाले रसिक महानुभावोंके भी हैं।
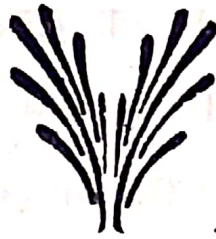
उत्तर भाग

जीव ब्रह्म सम्बन्ध

भूमिका :—अपना ब्रह्मसम्बन्ध बिचार करते समय देहात्मबुद्धिका त्याग करना आवश्यक है। अधिकांश लोग इस पाँचभौतिक घृणित अपावन हाड़ मांस वाले स्थूल शरीरकोही अपना स्वरूप मानकर, अज्ञानवश लौकिक सुखके साधन जुटानेमेंही अपने देवदुर्लभ मानवजीवनको व्यर्थ गँवा देते हैं। उन्हें स्थूल शरीरकी रचनापर बिचार करना चाहिये।

अचला अग्नि अकास जल, अरु पंचम पवमान।
इन करिकै जो रचित यह, थूल काय जिय मान ॥ १ ॥

शब्दार्थ :—अचला=पृथ्वी। पवमान=वायु। थूल-काय=स्थूल शरीर।

भावार्थ :—पृथ्वी (मिट्टी), अग्नि, आकाश, जल और पाँचवा पवन—इन पञ्चमहाभूतोंसे विरचित यह स्थूल शरीर है। अपने जीमें ऐसा बिचार करें।

यह जरामरण, रोगशोकधर्मा स्थूलशरीर चौबीस तत्त्वोंका बना है। पूज्य ग्रन्थकर्त्ताने यहाँ मोटामोटी प्रधान पाँच तत्त्वोंकेही नाम गिनाये हैं। उपलक्षणसे शेष उन्नीस तत्त्वोंको भी जान लेना चाहिये। वह है पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। १-हाथ २-पैर, ३-मुख, ४ मलद्वार और ५-मूत्रमार्ग। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

हैं- १-आँख, २-नाक, ३-जीभ, ४-कान और ५-त्वचा। पंच तन्मात्राएँ- १-शब्द, २-रूप, ३ रस, ४-गन्ध और ५-स्पर्श। चार अन्तःकरण- १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त और ४-अहंकार।

इस मरणधर्मा स्थूलको हम मरनेपर यहीं छोड़कर चल देंगे। स्थूल देहाभिमानियोंको प्रधानतः विषय-वस्तुओंकाही ज्ञान बना रहता है। स्थूल देहका भान जाग्रत अवस्थामेंही बना रहता है। सोनेपर स्वप्नावस्थामें हम सूक्ष्म शरीरसे स्वप्न-कार्य करते हैं। सूक्ष्म शरीरकी रचनाउपकरण भी जान लीजिये।

पञ्चप्रान मन बुद्धि पुनि, दसहूँ इन्द्रि समेत।
सूक्ष्म अंग सो पंच बिनु, दुख सुख साधन हेत॥ २॥

शब्दार्थ :— पञ्चप्रान=शरीरमें प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक पाँच प्राणवायु हैं। सूक्ष्मअंग=सूक्ष्म शरीर। पञ्चबिनु=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से रहित।

भावार्थ :—सोनेपर हमारा स्थूल शरीर अपने घरमें बिछावनपर ही पड़ा रहता है। हम दूर-दूर देशोंको तथा वहाँ के स्थित व्यक्तियोंसे व्यवहार वार्तालापकर आते हैं, वह कौन शरीर है? वही सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीरमें पञ्चमहाभूत नहीं होते। ऊपर वर्णित पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीरमें व्याप्त रहती हैं। चार अन्तःकरणोंमें केवल मन और बुद्धि—दो ही वहाँ क्रियमाण रहते हैं। स्वप्नके सुखदुखों का अनुभवभी यही सूक्ष्म शरीर करता है। देवताओंको सूक्ष्म

शरीरही मिलते हैं, परन्तु है यहभी नाशवान, मायारचित। हमारा शुद्ध जीवस्वरूप इससेभी भिन्न है।

प्रभु कि अविद्या भक्ति फुर, झूँठ कही नहिं जाय।
सो लखु कारनकाय सो, बद्ध न बंध सुभाय ॥ ३ ॥

भावार्थ :—श्रीजानकीजीवनजू प्रभु कहाते हैं, अतुलित सामर्थ्य है इनमें। इनकी शक्तिको परमप्रबल होनाही चाहिये। 'अतिसय प्रबल देव तव माया।' इस शक्तिका नाम है अविद्या। 'एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा ॥' फुर कहते हैं सत्य अर्थात् नित्य अविनाशीको। बौद्ध दर्शनमें इसे झूठा कहा गया है। परन्तु यह कर्ममूलक जगत् प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। इसमें किये गये कर्म अनन्तकालकेलिये बंधन रूप बन जाते हैं। तब इसे झूठ कैसे कहेंगे ? यह सत्य है। इस अविद्या शक्तिके प्रभावमें आकर जीव नानाप्रकारके जागतिक भोग प्राप्त करनेके मनोरथ करता है तथा मनोरथ पूर्तिके लिये भरसक कर्मभी करता है। इतने मनोरथ एक जन्ममें सिद्ध होना असम्भव है। अतः सभी मनोरथ अग्रिम जन्मोंके बीज बन जाते हैं। इस (मनोरथ) वासना-बीजका बना होता है कारण (काय) शरीर। इस कारण शरीरका स्वभाव है बद्धजीवोंको (मायामोहित प्राणियों को) जन्ममरणके जालमें बाँध रखना। ऐसा कारण शरीरभी हम नहीं हैं। अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होनेमें कारण शरीर बाधक है। इसे प्रियतमके विरहाग्निमें जलाकर भस्मकर देना है।

राम मिलन विरहानल छाई ।
तब कारन सशरीर जरि जाई ॥

तब अपना शुद्ध जीवस्वरूप है कैसा ?

प्रकृती अरु सब तत्व तें, भिन्न जीव निज रूप ।
सो प्रभु सों नातो बिसरि, पर्‍यो मोह तम कूप ॥ ४ ॥

भावार्थ :—विशिष्टाद्वैत वेदान्तके मतसे माया, जीव और ब्रह्म ये तीनों तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं । प्रकृति अर्थात् माया तथा इसके पच्चीस तत्त्वोंसे भिन्न हमारा अपना शुद्ध जीवस्वरूप है । इस मायादेशमें आकर हम मायाके साथ घुलमिलकर एकमेकसे प्रतीत होते हैं, परन्तु बिचारकर देखनेपर हम इससे सर्वथा भिन्न हैं । मुक्त होनेपर इसका तनकसाभी संसर्ग हमारे स्वरूपमें नहीं रहनेको ।

ब्रह्मसच्चिदानन्दसे सच्चिदानन्द जीवका अनादि सिद्ध नित्य अमिट सम्बन्ध है । मायाजन्य अज्ञानतावश हम अपने ब्रह्मसम्बन्धको भूल हो गये । परिणाम यह हुआ कि मोहान्धकारमय कूपमें पड़े हैं । कूआँ में गिरा हुआ व्यक्ति विना दूसरे समर्थकी सहायतासे निकल नहीं सकता ।

पुनि सोइ रसिकन संग करि, लहै यथारथ ज्ञान ।
नातो सिय रघुनन्दन सों, निज स्वरूप पहिचान ॥ ५ ॥

भावार्थ :—शास्त्रचिन्तनादि उपायोंसे प्राप्त ज्ञान संशय मिश्रित होता है । यथार्थ ज्ञान विशुद्ध ज्ञान होता है—संशय,

भ्रम आदिसे रहित । यह तो बीतराग रसिकोंके संगसे ही संभव है ।

गरुड़ महाग्यानी गुन रासी ।
हरि सेवक अति निकट निवासी ॥
तेहि केहि हेतु काग सन जाई ।
सुनी कथा मुनि निकर बिहाई ॥

मुनि ज्ञानी तो थे, किन्तु रसिक नहीं थे । श्रीकागजी रसिक थे । कैसे ? अजी, श्रीसीतारमणका भजन करने वाले ही तो रसिक हैं । रसिक भावसे, सम्वन्ध बलसे, प्रियतमको वशमें कर लेते हैं । श्रीकागजीका मत है ।

भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन ।
तजि ममता मद मान, भजिअ सदा सीता रमन॥१६२॥

रसिक सन्तोंमें दो लक्षण प्रमुख होते हैं । १- परम-वैराग्य, २-रसमय ब्रह्मकी रसरीतिसे उपासना करनेमें भाव-मग्न रहते हैं ।

यावत् जगके भोग रोग सम त्यागेउ द्वंदा ।
पिय प्यारी रससिंधु मगन नित रहइ अनन्दा ॥
— श्रीअग्रदेवाचार्य ।

यथार्थ ज्ञानके दो अंग हैं । पहला अपने शुद्ध जीव-स्वरूपको पहचानना, दूसरा श्रीमैथिलीरघुनन्दन युगलकिशोरसे अपने नित्य सम्बन्धका ज्ञान । दोनों मिलाकर एक अखण्ड ब्रह्म है । नाता दोनोंके साथ यथायोग्य होना चाहिये ।

जानु जीव सावैव पुनि, ईश्वर हू सावैव ।
निरवैवी जो कहत तिन्ह, जान्यो नहि श्रुतिभव ॥ ६ ॥

शब्दार्थ :—सावैव (स+अवयव)=साकार । श्रुतिभव =वेदका तात्पर्य ।

भावार्थ :—अपने शुद्ध जीवस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होने पर यह निस्सन्देह जान पड़ेगा कि जीव नित्य भगवद्धाममें जाकर भी नित्य साकार रूपसेही ब्रह्मकी सेवा परिचर्या करता है। सेव्य इष्ट ब्रह्मभी नित्य साकार ही हैं। कोई अद्वैतवादी वेदान्ती यदि ब्रह्मको निराकार कहता है तो जानना चाहिये कि बेचारे वेदान्तीको श्रुतिका तात्पर्य समझमें आया नहीं। शुष्क हृदय होनेसे जाननेके अधिकारी भी नहीं हैं। जहाँ श्रुति ब्रह्मको रूपरहित कहती है, वहाँ श्रुतिका तात्पर्य यह है कि जो विकारग्रस्त प्राकृतरूप तुम देखते हो, वैसा रूप ब्रह्मका नहीं है, उससे विलक्षण है—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी ।
विगत विकार जान अधिकारी ॥

यथा ईश सियरामजू, द्विभुज मानुषाकार ।
नित्य सच्चिदानन्द घन, लीला अवधि उदार ॥ ७ ॥
तथा जीव तेहि अंस निज, द्विभुज मनुष्याकार ।
सच्चिद्रूप अनूप छवि, अधिकारी परिचार ॥ ८ ॥

भावार्थ :—पिछले भागके दोहा ५२में श्रीसीतारामजी-को कार्य-कारणोंसे परे ब्रह्मका परात्परतम रूप कहा गया है। उसी भावको पुनः यहाँ स्पष्ट करते हैं। ऐश्वर्य माधुर्य उभय-विभूतियोंसे परिपूर्ण नित्य अयोध्या विहारिणी बिहारी श्रीसीता-रामजी दो भुजावाले मनुष्यवत् आकार वाले हैं। उनमें एक-रस रहने वाला सदांश, चिदांश अर्थात् ज्ञानांश एवं आनन्दांश तीनों निरतिशय रूपसे परिपूर्ण हैं। घनका यही भाव है। वे नित्यहैं, श्रीअयोध्यामेंही उदारलीला करतेहैं। उदार इसलिये कि-

कहहि सुनहि अनुमोदन करहीं।

ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

जिस प्रकार स्वयं ब्रह्म श्रीअयोध्याबिहारी द्विभुज मनुष्याकार हैं। उसी प्रकार जीवभी तो उन्हीं का अंश अर्थात भोग्यभूत है। अतः वहभी उन्हींके समान द्विभुज मनुष्याकार है। जीवभी एकरस रहने वाला सदांश युक्तहै तथा चिदांश अर्थात् ज्ञानांश संयुक्त भी है। आनन्दांश ब्रह्ममें निरतिशय हैं। जीवमें स्वल्प है। अतः सच्चिद्रूप कहा सच्चिदानन्द रूप नहीं। श्रीअयोध्या-नाथका भोग्य शुद्ध जीवकी सुछबिके समान छबि स्वर्ग, ब्रह्मलोक को कौन कहे किसी वैकुण्ठलोकमेंभी नहीं है। बड़ीध्यानमञ्जरी में इसकी बिशेष चर्चा है। अतः अनूप छबि कहा। जीवका अधिकार परिचार अर्थात् सेवा मात्रका है। श्रीयुगलकिशोरकी सरस सेवामेंही जीवको आनन्दकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है।

❀ सम्बन्ध ज्ञानप्राप्त जीवका कर्त्तव्य ❀

यथारूप निज भाव करि, करै मानसी सेव ।
प्राप्तिहुँमें तस पावहीं, रसिक जान यह भेव ॥ ६ ॥

भावार्थ :—ऊपरके दोहा ६, ८ में शुद्ध जीवस्वरूपको मनुष्याकार बताया गया, किन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया कि वह स्त्री, या पुरुष, बालक या युवक, श्याम या गौर, कद का छोटा या बड़ा ? आत्मसम्बन्ध दर्पणमें पूज्य ग्रन्थकार भाव हीन जीवस्वरूपका वर्णन करते हैं—

"एतैस्त्रिभिः शरीरै र्विलक्षणो न ह्रस्वो, न दीर्घो ।
स्थूलो न सूक्ष्मो न श्यामो न गौरो,
न स्त्री, न पुरुषो, न क्लीवः ॥
एवं प्रकारेण अलक्ष्यस्स्वयं प्रकाशः सच्चिदानन्द रूपः ॥"

ब्रह्म सम्बन्धका संस्कार करते समय दिव्यदेशद्रष्टा-रसिकगुरु जैसा आपका स्वरूप बतावें, वही आपका भाव शरीर है—"भावस्त्वत्र लौकिकानां इव सम्बन्धः ॥"

उसी सम्बन्धानुरूप स्वरूपमें आविष्ट होकर आप श्रीप्रिया-प्रियतमजूकी मानसिक सेवा करते रहिये । श्रद्धापूर्वक आप अपने स्वरूपका चिन्तन करते रहेंगे तो उसी स्वरूपसे श्रीयुगल-किशोरको प्राप्त करेंगे ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीमुखबचन है कि अन्त-अन्त कर जिस भावका चिन्तन करतेहुये जीव शरीरको त्यागता है, उसी भावसे वह मुझे प्राप्त करता है ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥ ८.६ ॥

कारण यह है कि मानसिक सेवामें मन बुद्धि प्रियतम में आसक्त रहती है, तब उन्हें क्यों नहीं पावेगा ?

"मय्यार्पित मनोबुद्धि र्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।" ८ । ७

रसिकजन इस प्राप्ति वाले रहस्यको जानते हैं । जो अन्तर्जगतमें रमाही नहीं, वह बेचारा क्या जाने ?

दास दासि अरु सखि सखा, इनमें निज रुचि एक ।

नातो करि सियराम सों, सेवैं भाव विवेक ॥१०॥

शब्दार्थ :—भाव विवेक=सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक ।

भावार्थ :—ऐसेतो ब्रह्मजीवके बीच "मोहि तोहि नातो अनेक मानिये जो भावै" है, परन्तु उपासना देशमें १-शान्त, २-दास्य, ३-सख्य, ४-वात्सल्य और ५-शृंगार, पाँच ही रस के सम्बन्ध सर्वमान्य हैं । यहाँ 'दासदासी' शब्दसे दास्यभाव, 'सखि' से शृंगार भाव तथा 'सखा' से सख्यरस सम्बन्ध तीन ही गिनाये गये हैं । सेव्य है श्री 'सियराम' युगलकिशोर । शान्त और वात्सल्यमें युगलात्मक सेवा नहीं बनती । अतः युगल सेवाके अनुरूप उपर्युक्त तीनोंमेंसे साधक अपनी रुचि एवं पूर्वसंस्कार परवश प्रवृत्ति विचारकर जिस भावमें मनमाने, उसी भावका सम्बन्ध सुयोग्य आचार्य द्वारा प्राप्तकर, सम्बन्ध ज्ञानपूर्वक सम्बन्धानुरूप गुरु उपदिष्ट रीतिसे श्रीयुगलमनभावन जूकी लाड़-प्यारपूर्वक मानसिक सेवा करे ।

श्रृंगाररसमें तो षटऋतु विहार भावना और भी सुंदर निखरती है ।

होरी, रास, हिंडोलना, महलन अरू सिकार ।
इन लीलन की भावना, करै भाव अनुसार ॥११॥

भावार्थः—वर्षविलासमें फागुनका होरीविलास, आश्विन का रासविलास, श्रावणका झूलासुख अधिक रसनीय है। दैनिक विलासमें रात्रिके शयनसे प्रातः उत्थापन तक महलके शयन विलास, आखेटक आदि आठो पहरके आह्निकविलास सभी अत्यन्त आनन्ददायक हैं। अपने आचार्यप्रदत्त सम्बन्ध भावसे उन-उन लीलाओंकी मानसिक भावना अर्थात् सेवा करे ।

"भावना तद्रहस्ये चिन्तनम्"—आत्मसम्बन्ध दर्पणे ।

बसै अवध मिथिलाथवा, त्यागि सकल जिय आस ।
मिलिहैं सियरघुनन्द मोहि, अस करि दृढ़ विश्वास ॥१२॥

भावार्थ :—श्रीमिथिला, श्रीअवध ब्रह्मरूप हैं। इनके चिन्मय वातावरणमें भाव-भावनाकी अनायास सिद्धि हो जातीहै । अतः भावुकको चाहिये कि दोनोंमें जहाँ जी चाहे अखंडवास पूर्वक भावसिद्धिके लिये जुटे रहे । श्रीधामवास की बाधक है मिथ्या आशा । सगे-सम्बन्धियों की, सेवक-सतो की आशा, देहातकी जमीन-जायदाद की जीविकाके लिये आशा। वही करते हैं, जिन्हें अपने विश्वम्भर इष्टदेवमें विश्वास नहीं है। भजन करनेवाले कभी भूखे नंगे नहीं रहते। करके आजमा लीजिये।

मोर दास कहाइ नर आसा।

करइ तो कहहु कहहु कहाँ विश्वासा ॥

जे लोलुप भये दास आसके, ते सबहीके चेरे।

प्रभु–विश्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ॥

— श्रीविनय १६८।४

इस साधकके मनमें दृढ़ विश्वास जम जाना चाहिये कि आश्रित-सुलभ परात्परतमब्रह्म श्रीसीतारामजी मुझे अवश्य मिलेंगे। मैं उनमें भाव करता हूँ, तो "भावस्य भगवान" हैं। क्यों न मिलेंगे ?

❀ शरणागति-स्वरूप ❀

पूजे नहि बहु देवता, विधि निषेध नहि कर्म।

शरण भरोसो एक दृढ़, यह शरणागति धर्म ॥१३॥

भावार्थ :—शरणागति सद्यः सिद्धि देने वाली है। शरणमें आतेही शरणागतवत्सल श्रीजानकीवल्लभलालजू झटसे शरणागतको बाँह पकड़कर अपना लेते हैं। श्रीसुग्रीव विभीषण आदि प्रमाण हैं, किन्तु शरणागतिनिर्वाहके लिये तीन शर्तें हैं। पहली यह है कि शरणार्थी अनन्य भावसे एकही इष्टदेवताकी उपासनामें समासक्त रहे। अन्य देवकी पूजा, ध्यान, दर्शन आदिसे परहेज रखे।

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।

को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव।

तुलसिदास तेहि सेइये संकर जेहि सेव ॥१०७॥

श्रवननि और कथा नहि सुनिहौं रसना और न गैहौं।

रोकिहौं नैन विलोकत औरहि सीस ईस ही नैहौं।१०४।३

दूसरी शर्त यह है कि शरणार्थी विधि-निषेधात्मक कर्म मार्गको सर्वथा त्याग देवे। श्रीमद्भागवतमें महाराज निमिके पूछनेपर नववें योगीस्वर श्रीकरभाजनजी कहते हैं कि सर्वात्म-भावसे भगवच्छरणापन्न व्यक्तिको कर्म मार्गको त्यागही देना चाहिये। क्योंकि शरणागत जीव परसे देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋण उतर जाते हैं। अपने शरण्यको छोड़ वह न तो किसी अन्यका परतन्त्र है, न सेवक, न बन्धनमें रहने वाला है।

देवर्षि भूताप्त नृणां पितृणां

न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मनो यः शरणं शरण्यं

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥११।५।४१॥

तीसरी शर्त है शरणागतिमात्रसे हमारा सबकुछ बन जायगा। अतः सोरह आने उसी साधनपर निर्भर रहे, और उपाय अपने अभीष्ट सिद्धिकेलिये नहीं करे। यही शरणागति धर्म है।

ज्ञेयः शरण्यं रक्षितृ संज्ञा को सत एव ।
स त्वां रक्षति सर्वदा, दाशरथी प्रभुरेव ॥१४॥

शब्दार्थ :—ज्ञेयः=जानना चाहिये । रक्षितृ=रक्षक । संज्ञा=नाम । सत=ठीक ठीक । एव=ही । स=वह । त्वां=तुमको । रक्षति=रक्षा करते हैं । दाशरथी=श्रीदशरथनन्दन । प्रभुः+एव=प्रभु ही । प्रभु=समर्थ ।

भावार्थ :—शरण शब्द यथार्थमें रक्षा करने वालेकाही नाम है । सो सर्वजीवरक्षक परमसमर्थ श्रीदशरथकुमारही तुम्हारी सर्वदा रक्षा करते हैं, ऐसा जानो ।

(सोरठा) प्रभुके शरणागतोपयोगी गुणगण

शरणागत सुखदानि, शरण्ये यानि गुणानि वै ।
हृदये धारय तानि, मुख्यानीह वदाम्यहम् ॥१५॥

शब्दार्थ=शरण्ये=रक्षकमें । यानि=जितने । गुणानि (बहुवचन = गुणगण । वै=निश्चय । हृदये=हृदयमें । धारय=धारण करो । तानि=उन सबोंको । मुख्यानि+इह=यहाँ मुख्य मुख्य । वदामि+अहम्=मैं कहता हूँ ।

भावार्थ :—अपने रक्षक प्रभु श्रीजानकीवल्लभलालजूमें जितने शरणागत-सुखदायक गुणगण हैं, उन्हें यत्नपूर्वक हृदय में धारण किये रहना । यहाँ कुछ प्रमुख गुणोंको मैं (श्रीग्रन्थ-कर्त्ता) कहता हूँ ।

गुण गुणार्थ सियराम के, ताको करै विचार ।
निज अयोग्यता शंक सब, मेटे भली प्रकार ॥१६॥

शब्दार्थ :—गुणार्थ=गुणोंका प्रयोजन ।

भावार्थ :—शरणागत जीवको चाहिये कि अपने शरण्य श्रीयुगलकिशोरजूके शरणागतोपयोगी गुणगण तथा उन गुणोंके प्रयोजनको चिन्तन करे, और हम शरणागतके योग्य नहीं हैं, हमारी रक्षा प्रभु कैसे करेंगे ? ऐसी शंकाको अच्छी तरहसे मिटा डाले ।

❁ वत्सलता ❁

वत्सलता सियराम की, ताकहँ प्रथमहि देखु ।
भक्षिव भोगै दोष कों, वत्सलता सोइ लेखु ॥१७॥

शब्दार्थ:—भक्षिव (भक्ष+इव)=भोज्य वस्तुकी भाँति ।

भावार्थ :—सर्वप्रथम प्रभुकी वत्सलता गुणका विचार करते हैं । वत्सका अर्थ है गौका नवीन जन्मा बछड़ा । बछड़ा गौके पेटसे निकलता है, शरीरमें कचड़ेको लपेटे । गौमाता उसे चाटकर साफकर बच्चेको निर्मल बना देती है । बछड़ेके अंगका कचड़ा यद्यपि गौकी भोजन-वस्तु नहीं है, परन्तु बच्चे की शुद्धिकेलिये माँ उसे भोजनकी भाँति चाट जाती है । उसी प्रकार नवीन शरणागत, प्रभुका नवजात बच्चा है । उसके सारे पाप दोष प्रभु गोमाताकी भाँति स्वयं शुद्धकर देते हैं ।

भक्तराज अर्जुनसे भी गीताचार्य भगवान् ने कहा हैं । तुम शरणमें आओ । मैं तुम्हारे सभी पापोंको सद्यः छुड़ा डालूंगा । चिन्ता न करना ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥१८।६६

पापी वाशुभ आतमा, अथवा वध की नीति ।
ताहू पर दाया करै, आर्य्यन की यह रीति ॥१८॥

शब्दार्थ :—वाशुभ (वा+अशुभ)=अथवा कुलक्षण ।
आर्य्यन=सत्पुरुषों ।

यही कह्यो श्रीजानकी, पवनसुतहि समुझाइ ।
दोषवती सब राक्षसी, लीन्हीं ताहि बचाइ ॥ १६ ॥

भावार्थ :—लंका विजयका सम्वाद लेकर, श्रीहनुमानजी लंका वाली अशोकवाटिकामें श्रीसियास्वामिनीजूके निकट जा-कर कहते हैं—माताजी ! आप आज्ञा दें, तो आपको सताने वाली इन राक्षसियोंको मैं मार डालूँ । इसपर श्रीसियाठकुरानी ने जो उत्तर दिया, वह शरणागत चेतनोंको बहुतही सान्त्वना-दायक है । कहती हैं—बेटा ! कोई जीव भारीसे भारी पापी क्यों न हो, अथवा अमंगलदर्शी हो, अथवा उसके अपराधको विचारकर न्याय उसे प्राणदण्ड योग्यही ठहरावे, तौभी सत्पुरुषों की रीति तो यही है कि उन सबोंपर भी दयाही करे । हाय रे हाय ! कैसा कुत्सित स्वभाव है इसका ! दयनीय है दयनीय !! ऐसा कहकर उन राक्षसियोंको बचा लिया । श्रीवाल्मीयरामा-यणमें इस आशयका मूल श्लोक इस प्रकार पठित है—

पापानां वाशुभानां वा वधार्हाणां प्लवङ्गम ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥६।११३।४५

पुनः विभीषण भेटके, समय कह्यो श्रीराम।
ताको सुमिरन कीजिये, वत्सलताको धाम ॥२०॥
सुनु कपीस मम बानि यह, मित्र भाव करि कोय।
आवै ताहि तजौं नहीं, यदपि दोष तेहि होय ॥२१॥

शब्दार्थ :—बानि = स्वभाव।

भावार्थ :—श्रीप्रियाजूके वात्सल्यगुण परिचायक प्रसंग कहकर, अब श्रीराघवजूके वात्सल्यका नमूना देरहे हैं। श्रीवाल्मीकीयरामायणकी कथा है। प्रसंग है श्रीविभीषण शरणागतिका। श्रीसुग्रीवादि सचिवोंने श्रीविभीषणजीकी शरणस्वीकृतिका विरोध किया, तो आपने श्रीमुखसे अपने स्वभावकी स्पष्टोक्ति की।

वानरेन्द्र सुग्रीवजी! आपने जो राजनीति सम्मत सुझाव दिया है, वह राजनीतिक विचारसे सर्वथा प्रशसनीय है, परन्तु मैं अपने स्वभावसे उसे चरितार्थ करनेमें असमर्थ हो रहा हूँ। मेरा शरणागतवत्सल स्वभाव कुछ और ही है। वह यह कि मित्रभावसे कोईभी व्यक्ति मेरी शरणमें आता है, तो उसमें प्रत्यक्ष दोष देखकर भी मैं उसे त्यागनेमें असमर्थ हो जाता है। मूलश्लोक इसप्रकार है—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥६।१८।३

वात्सल्य गुणनिधान शरणागत रक्षणसुजान श्रीजानकीजानजूके इस स्वभावका चिन्तनकर निश्चिन्त रहें। भवसिन्धुमें डूबनेसे अवश्य उबार लेंगे।

पूर्व कृताग बिचारि निज, उपजे प्रभुकी संक ।
वत्सलताको सुमिरि कै, करिये मनहि निसंक ॥२२॥

शब्दार्थ :—कृताग=किया हुआ पाप । संक=प्राप्तिमें सन्देह, भय ।

भावार्थ :—शरणागत होनेके पहले जीवके सहजस्वभाव परवश जो अपनेसे मनसे, वाणीसे, कर्मसे कोटि-कोटि पाप बन गये हों, उन पापोंपर बिचारनेसे मनमें भय होने लगता है कि हमारे जैसे महान पापीको प्रभु कैसे स्वीकार करेंगे ? ऐसी दशामें प्रभुके वत्सलता गुणको स्मरण करना चाहिये । शरणपाल दयालु प्रभु अपने वात्सल्य गुणसे हमारे जैसे गये-गुजरेको भी स्वीकार करते आये हैं । हमें क्यों न स्वीकार करेंगे ? ऐसा समझकर मनको धैर्य देते हुये निर्भय हो जाना चाहिये ।

❀ स्वामित्व गुण ❀

द्वितीय लखि स्वामित्व गुण, ताको अर्थ बिचार ।
सबमें माने अपनपौ, सो स्वामित्व उदार ॥२३॥
ताको हिये निधाय के, करिये संशय दूरि ।
प्रभु सब काज सुधारिहैं, निज लखि करिहैं ऊरि ॥२४॥

शब्दार्थ :—स्वामी (सं० स्वामिन्=स्व+मिनि) अपना मानने वाला मालिक । निधाय=सुरक्षित रखकर । ऊरि=स्वीकार ।

भावार्थ :—शरणागतोपयोगी सबसे प्रथम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ गुण है वात्सल्य। दूसरा दर्जा आता है स्वामित्व गुणका। हमारे श्रीसीताकान्तजू परात्परतम ब्रह्म है। त्रिदेव भी आपके भृत्य हैं। कुम्भकरनने रावणसे कहा है—

कीन्हेउ प्रभु विरोध तेहि देवक। सिव विरंचि हरि जाके सेवक॥

सर्वेश्वर होनेके नाते आपकी ममता प्राणिमात्रपर बराबर है।

अखिल विश्व यह मोरि उपाया। सबपर मोरि बराबर दाया॥

सबको अपना मानकर सबका भरण-पोषण, सार-सम्हार करते रहते हैं। जब सबका बिगड़ा बनाते रहते हैं, तब मेरेको, तो अपना आश्रित जानकर वात्सल्यवश अवश्य स्वीकार करेंगे। इस स्वामित्व गुणको हृदयमें जोगाये रहें और अस्वीकृति बिषयक संशयको सर्वथा मिटा देवें।

❀ सौशिल्य ❀

तृतिय लखि सौसिल्य गुन, अति निकिष्ट किन होय।
प्रीतिविवस ऊरी करै, कहि सुशीलता सोय॥२५॥

शब्दार्थ :—निकिष्ट (निकृष्ट)=नीच। किन=क्यों न। ऊरी (ऊररी सं०)=अंगीकार।

भावार्थ :—सुशीलताकी परिभाषा करते हुये पं० वैद्यनाथप्रसाद लिखते हैं—'दीनौ हीन मलीन अपि, घिन आवै जिहि देखि। सबहि आदरै मानदै, सो सौशिल्य विशेषि।'

तीसरे शरणागतोपयोगी गुण सौशिल्यका वर्णन करते हुये, कहते हैं कि प्रीतिरसके अपार पारावार श्रीअवधेशकुमार

सबप्रकारसे गये-गुजरेको भी अंगीकार कर लेते हैं। इसीसे आप शीलसिन्धु कहे जाते हैं।

सो प्रसिद्ध रघुनाथमें, भेटे भाल रु कीस।
पुनि गुह आदिक अन्य जन, दरसन जासु अनीस॥ २६॥

शब्दार्थ :—कीस = बानर। गुह = निषादराज। अनीस = यहाँ अनीससे अनिष्टका भाव है, अर्थात् अमंगल।

भावार्थ :—सौशिल्यगुण श्रीरघुवंशविभूषणलालमें जगद्विख्यात है। जिन बानर-भालुओंको देख लेने मात्रसे अमंगल होता है, उन्हेंभी गले लगाया है। निषादराज गुह, कोल भिल्ल इसी कोटिके अन्य जनोंसे भी प्रेमपूर्वक मिले हैं तथा इन्हें अपनाया है। मुर्देका मांस खाने वाले रुधिरसे लथपथ गीध (जटायु) को भी गोदमें बैठाकर प्यार किया है। हद हो गई सुशीलता की! खोज आइये ऐसा शीलनिधान, कहीं न मिलेगा।

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किये आपु समान।
तुलसी कहूँ न रामसे, साहिब सीलनिधान॥

निज निकिष्टता देखि सिय, राम मिलन सन्देह।
ताहि निवारन कीजिये, सुमिरि शील गुन येह॥ २७॥

भावार्थ :—कभी-कभी हम सोचते हैं कि हाड़-मांसके बने मलमूत्रसे भरे, अनेक पापोंसे जकड़े, इस नीच शरीरको परमपावन प्रभु कैसे शरणमें स्वीकार करेंगे? अपनी नीचता विचारकर संदेह होने लगता है कि परात्परतमब्रह्म श्रीयुगल-

किशोर मैथिली रघुनन्दनजूको पानेके अधिकारी हम हैं नहीं, हमें नहीं मिलेंगे।

उस सन्देह स्थलपर हमें शीलसिन्धु दीनबन्धु श्रीजानकी-जीवनजूके इस उपर्युक्त शीलगुणका स्मरण करना चाहिये। हम निधरक शरणापन्न हो जायँ। पापीसे पापीको भी 'सकृत प्रनाम किये अपनाए।' 'देखि दोष कबहूँ न उर आने॥' स्व-भाव वाले शीलनिधानजू हमें निश्चय अपनावेंगे। सन्देह दूर हुआ।

❀ सौलभ्य ❀

लखु चतुर्थ सौलभ्य गुन, जाकरि अर्थ विचारि।
दुराधर्ष पुनि सहजहि, मिलै सो सुलभ उदार॥२८॥
यथा राम ब्रह्मादिकन, दुर्लभ कहि आम्नाय।
सो भेटैं अति प्रीति करि, सबरी के घर जाय॥२९॥
चक्रवर्ती नृपनन्दकी, यही सुलभता धारि।
दुर्लभता को सकल उर, दीजे भले निवारि॥३०॥

शब्दार्थ:—दुराधर्ष=जिनके निकट पहुँचना दुर्लभ होय। सुलभ=सुगमता पूर्वक पाने योग्य। आम्नाय=वेद, सम्प्रदाय।

भावार्थ :—चौथा गुण है सौलभ्य। इसके अर्थपर विचार करना चाहिये। जिसके निकट पहुँचना कठिनसे भी कठिन हो, वह सुगमतापूर्वक मिल जाय, वही महान सौलभ्य-गुण कहाता है। यह गुण श्रीराघवेन्द्रसरकारमें भरपूर है।

वेद कहते हैं कि "महतो महीयान्" परात्परतम् ब्रह्म श्रीसाकेताधीशजू श्रीब्रह्मादि त्रिदेवोंकेलिये भी दुर्लभ हैं। "सिव बिरंचि हरि मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई।।" पर मिलती नही।

वही लोक वेदसे तिरस्कृत भीलनी शबरीजी से मिले, स्वयं उनके घरपर जाकर। योगीश्वरों मुनीश्वरोंको खोजनेपरभी नहीं मिलते। पर दीन शरणार्थी उन्हें खोजने नहीं जाता। वह स्वयं खोजकर उसके पास आ जाते हैं।

चक्रवर्तीन्द्र श्रीकौशलेशराजदुलारेजूके इसी सौलभ्य-गुणको स्मरणकर, मिलन वाली दुर्लभताकी शंकाको भलीप्रकार मिटा देना चाहिये।

❀ कारुण्य ❀

लखु पञ्चम कारुण्य गुन, तासु अर्थ अनुमान।
पर दुख लखि असहिष्नुता, सो करुना जियजान ।।३१।।
यथा भवन सुख त्यागि वन, गमन किये रघुनन्द।
प्रभु रिषि व्याकुल देखिकै, हने निशाचर वृन्द ।।३२।।
करुना गुनको सुमिरिकै, जियमें दृढ़ता आन।
भवज भीम दुख मेटिहैं, राम भानुकुल-भान ।।३३।।

शब्दार्थः—असहिष्णुता = न सहन करना। हने = मारा भवज = जन्ममरण चक्रसे उत्पन्न। भीम = भयावना। भानुकुल = सूर्यवंश। भान = सूर्य। पर = आश्रित भक्त।

भावार्थ :—अब पाँचवा गुण कारुण्यपर विचार करते हैं। कारुण्य शब्दके अर्थको जानना चाहिये। शरणागत प्राणी का दुःख दयार्द्र प्रभु सह नहीं सकते। अपने मनमें कारुण्य गुणका स्वरूप जानना चाहिये। आश्रितोंका कष्ट मानो अग्नि हो, जो नवनीत कोमल प्रभुका हृदय द्रवितकर देता है। अत्यन्त कोमल हृदय होनेसे अश्रुपात करने लगते हैं। आर्तप्रपन्नकी रक्षामें इतनी त्वरा होती है कि प्रभु विकल होकर सोचने लगते हैं कि किस प्रकार, कितना शीघ्र आश्रित कष्टको हम मिटा देवें।

आश्रिताग्नि महिम्नो रक्षितु हृदयद्रवः।
अत्यन्त मृदुचित्तत्वमश्रुपातादि कृद् द्रवत् ॥
कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्ति निवारणम्।
इतीच्छा दुःख दुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वरा ॥

— भगवद्गुण-दर्पणे।

दृष्टान्त देते हैं—राक्षसोंके उत्पातसे संत्रस्त देवमुनियों के दुःखसे करुणार्द्र होकर प्रभुने श्रीअयोध्याके भवनसुखको छोड़कर, बनवासका कष्ट स्वीकार किया।

अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाये।
सुनि रघुबीर नयन छल छाये ॥

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पनकीन्ह ।
सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥७।६

ऋषियोंको व्याकुल देखकर राक्षस समूहको नष्ट किया। इस करुणा गुणका स्मरणकर हमें अपने हृदयमें दृढ़ विश्वास जमाना चाहिये कि संसृति चक्रसे उत्पन्न भयावने कष्टको सूर्य-वंशकोभी प्रकाशित करनेवाले सूर्य समान प्रभु श्रीराघवजू मिटा डालेंगे । सूर्यके सामने निराशाका अंधकार ?

❀ शक्ति गुण ❀

लखु षष्टम सो शक्ति गुन, ताकरि अर्थ विचार ।
अघटन घटना करि सकै, सो जिय शक्ति निधार ॥३४॥
सो प्रसिद्ध रघुनाथ में, अस्म तराये पाथ ।
मरकट वध्य अश्रय किये, विभिषन लंकानाथ ॥३५॥
नित्य परीकर मध्य निज, प्राप्ती को सन्देह ।
ताहि निवारन कीजिये, सुमिरि शक्ति गुन येह॥३६॥

शब्दार्थ :—अघटन=जिस कार्यका होना सम्भव नहीं। घटना=सो कर देवें । निधार (निर्धार)=निश्चित रूपसे धारण करना । अस्म (अश्म)=पत्थर । पाथ=जल । मर्कट =बन्दर, यहाँ श्रीसुग्रीवजी । वध्य=प्राणदंडके अपराधी । अश्रय (आश्रय)=शरणमें रखा । परीकर (परिकर)=अनु-चरी, सहचरी ।

भावार्थ :—अब छठे गुणपर विचार कीजिये । यह शक्ति गुण है। इसके अर्थपर विचार करना चाहिये । जो कार्य औरोंकेलिये असम्भव है, वह करडालनेकी सामर्थ्यको अपने हृदयमें निश्चितरूपसे शक्ति जानिये ।

शक्तिगुण श्रीरघुनाथजीमेंही प्रसिद्ध है। "जय राम जो तृनसे कुलिस कर, कुलिस ते कर तृन सही ॥" ६।८१ ॥ आपकी पराशक्तिका श्रुतिभी बखान करती हैं।

"परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते ।" यहाँ आपकी अघ-टन घटना परिचायिका शक्तिके तीन प्रसंग लिखते हैं । पत्थर तो जलमें स्वयंभी डूबता है, औरोंको भी साथ लेकर डुबा देता है । ऐसे पत्थरोंको सेतुवन्ध कालमें जलपर तैरा दिया ।

श्रीरघुवीर प्रतापतें सिन्धु तरे पाषान ।
ते मतिमन्द जे राम तजि, भजहि जाइ प्रभु आन ॥ ६।३ ॥

सुग्रीवजी वध्य थे ।

जेहि अघ वधेउ व्याध जिमि वाली ।
फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥
सोइ करतूति विभीषन केरी ॥

वालिने कन्यातुल्या अनुजपत्नीके प्रति कुविचार किया । तो सुग्रीव तथा विभीषणने मातृतुल्या अग्रजपत्नीके साथ गर्हित सहवास किया । वध्य तो ये दोनों भी थे, परन्तु श्रीराघवलाल ने ऐसे वध्य पातकीको भी अपना प्रपन्न मानकर रक्षाही नहीं

की, प्रत्युत् लोकमें उसे उच्चपदाधिकारी बनाकर, परलोकमें अपने नित्य परिकरमें सम्मिलितकर लिया। श्रीसुग्रीवजीको किष्किन्धा नरेश बनाया तथा श्रीविभीषणजीको लंकाधिपति। दिव्यविहार देशमें इन दोनोंके नित्य सखीस्वरूप रसग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। अनन्तशक्ति-सम्पन्न प्रभुकी शरणागति घोरसेघोर पातकी, दुराचारीको भी सद्यः साधु बना डालती है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः··· ··· ··· ··· ··· ॥

— श्रीगीता ९।३०

नित्यविहारदेशके दिव्य रूप, गुण, दिव्य प्रेमसे परिपूर्ण कहाँ दिव्यदेशके नित्यसखीसमाज, कहाँ अपना दुर्गन्धमय स्थूल शरीर, कोटि-कोटि दुर्गुणोंसे भरा। उस रूपकी प्राप्ति हमें कैसे सम्भव है? यह शंका श्रीअयोध्याविहारीलालजूके शक्तिगुणके अनुसन्धानसे निवृत हो जायगी। प्रभु अपनी शक्तिसे हमजैसे अयोग्यको सुयोग्य बनायेंगे। अपनेको शरणमें आत्मसमर्पण कर देना मात्र है।

❀ ज्ञान गुण ❀

सप्तम सिय रघुनन्दको, ज्ञान सो गुन हिय देखु।
ताको अर्थ बिचारि निज, चित्त सुभीति जु लेख ॥३७॥
सर्व देस सब काल सब, बस्तुक राम लहोइ।
भक्त दुखापह सुख करन, ज्ञान जानि जिय सोइ॥३८॥

ज्ञान शक्ति सियराम के, दोउ गुन उरमें धारु।
सर्वदेस सबकालमय, कहुँ जनि भीति विचारु ॥३६॥

शब्दार्थ :—ज्ञान = जानने पहिचानेकी क्षमता। हिय देखु = विचार करें। चित्तरूपी दीवारपर। लेखु = अंकित करें। लहोइ = प्राप्त है। दुखापह = (अपह = अपहर्त्ता, निवारण करने वाला) दुखोंको नाश करने वाले। भीति = भय, डर।

भावार्थ:—श्रीमैथिलीरघुनन्दनजूके सातवाँ गुण है ज्ञान। हृदयमें विचारना चाहिये। उनके ज्ञानका अर्थ समझकर हृदय पटलपर अंकितकर लेना चाहिये। श्रीराघवलालजूको सप्तलोक ऊपर, पृथ्वीके नीचे तलातल आदि सातलोकोंकी सभी वस्तुओं की भूत, भविष्य वर्तमान कालीन समस्त जानकारी सदैव एक-रस बनी रहती है। "ज्ञान अखंड एक सीतावर।"

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—श्रीराघवजू ! तीनों लोकोंकी कौनसी वस्तु है, जो आप नहीं जानते ?

"अज्ञातं नास्ति ते किञ्चित् त्रिषु लोकेषु राघव।"

मुंडककी श्रुतिभी आपहीको सर्ववेत्ता सर्वज्ञ कहती है। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्॥ १।१।६॥

अनन्तानन्त ब्रह्मांडोंके असख्य प्राणियोंमें प्रत्येक प्राणी के इतिहास अनादिकालसे जानते हैं, और भविष्यके अनन्त-काल व्यापी उसका भावी चरित्रभी आपसे छिपा नहीं है। ऐसी ज्ञानराशिका उपयोग आप करते हैं, शरणागत संरक्षणमें। किसी समयमें किसी देशका प्रपन्न चेतन संकटापन्न होतेही आप

अपनी सर्वज्ञतासे जान लेते और उसी समय संकट मिटा देते हैं। शरणागतोंका योगक्षेम वहन करते हुये उन्हें अनेक प्रकार के सुख देते हैं।

इस ज्ञान गुणका स्वरूप हृदयमें समझना चाहिये। अपने ज्ञान और शक्ति दोनोके द्वारा प्रभु हम शरणागतोंकी सर्वत्र सर्वदा रक्षा करते रहेंगे। ऐसा समझकर उनकी शरण के भरोसे कहीं भी भय कभी नहीं करना चाहिये।

❀ दया गुण ❀

सात सार्थ बरनन करे, दया सो अष्टम लेखि।
करिहैं करु विश्वास दृढ़ दीन दुखित तोहि देखि ॥४०॥
हेतु रहित परदुख लखै, चित्त दुखित जेहि होय।
पुनि प्रहर्ण इच्छा चले, दया जानि जिय सोय ॥४१॥
असुर बधे मुनि अस्थि लखि, दुखित भये रघुनाथ।
प्रन कीन्हों अब मारिहौं, कुटुम सहित दसमाथ ॥४२॥

शब्दार्थ :—प्रहर्ण (प्रहरण =अच्छीप्रकारसे दुख हर लेने की। दसमाथ=रावण।

भावार्थ :—ऊपर सात गुणोंके अर्थ सहित वर्णनकर चुके। अब दया गुणका विवेचन करेंगे। इसे आठवाँ गुण समझना। दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि दयासिन्धु श्रीकौशल-किशोरजू आपको भवरोगसे दीन दुखी देखकर आप पर दया करेंगे ही।

अब दया गुणका अर्थ लिखते हैं। दूसरोंके दुख देख कर चित्त दुखित हो जाय, और निस्स्वार्थ भावसे उसके दुख मिटानेकी इच्छासे दुखीके पास जाय। प्रभुके इस गुणको अपने जीमें दया समझना चाहिये। यथा—राक्षसोंके हाथोंसे मारकर खालिये गये मुनिगणोंकी अस्थियोंका ढेर देखकर श्रीरघुनाथजी दुखी हो गये, और प्रतीज्ञा की कि परिजन पुरजन सहित रावण को मार डालूँगा।

दया शब्द निष्पन्न होता है देङ् धातुसे। देङ्का अर्थ है पालन करना। श्रीविश्वम्भर प्रभुमें यह गुण स्वाभाविकरूप से नित्य निवास करता है और सो भी निस्स्वार्थ भावसे। यह बात वेदविदित है।

पालन देङ् धात्वर्थो निर्निमित्तं हरेर्गुणः।
दयाख्यः श्रुति विख्यातो नित्यो ह्येष स्वरूपतः॥

— श्रीभगवद्गुण-दर्पणे।

इसी न्यायसे श्रीमुख बचन है—

सभी प्राणी मेरे उत्पन्न किये हुये हैं, सभी प्यारे हैं। सबोंपर मेरी समानरूपसे दया है, परन्तु जो जितने अधिक प्यारे हैं, उनपर उतनाही अधिक दया है। विज्ञानी मुनिपर अति दया। शरणागत तो मुनिसे भी अधिक प्यारे हैं। अतः उनपर निरतिशय दया होना योग्यही हैं।

अखिल विश्व यह मोरि उपाया।
सब पर मोहि बराबरि दाया॥

......ग्यानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी।

अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥

अतः —

निसिचर निकर सकल मुनि खाये।
सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥

(मुनियोंसे)—

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥

शरणागत वत्सल आप पर विशेष दयापूर्वक ढले हैं। क्यों व्यर्थ चिन्ता करते हैं, जी ?

❀ कृतज्ञता गुण ❀

कृष्णिक सम कृत भक्त गुन, कृष्ण धरौ तिहि मान।
मानव सोइ कृतज्ञता, कवि जन करत बखान॥४३॥
नाथ अचल कियो लंक को, माथ नवावत देखि।
वेद सो गावत गाथ रघुनाथ कृतज्ञ विशेषि॥४४॥
अस कृतज्ञता देखि कै, शरण सुधारिये राम।
जन करनी इच्छत नहीं, सब बिधि पूरन काम॥४५॥

शब्दार्थ :—कृष्णिक=राई। कृष्णधरौ=श्रीगिरिधरजू ने गोवर्द्धन नामक पहाड़ उठाया था। नाथ=राजा। इच्छत (ईच्छ सं॰)=ढूढ़ना, परवा करना।

भावार्थ :—अपने आश्रितोंके राई समान स्वल्पगुणको पर्वतके समान महान मानते हैं।

नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो
······श्रीरघुपति सम विपति निवारन।
जन गुन अलप गनत सुमेरु करि
अवगुन कोटि विलोकि बिसारन ॥
— श्रीविनय० २०६।

कविजन इसीको कृतज्ञता कहकर वर्णन करते हैं। गौतमीतन्त्रका कहना है कि कोई तुलसीका एक पत्ता या एक चुल्लू जल मात्रसे आपकी पूजा करदे, तो भक्तवत्सल राघवजू उन भक्तोंके हाथ अपनेको बेंच देते हैं।

तुलसी दल मात्रेण, जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

श्रीविभीषणजी कोई भेट–पूजा लेकर तो आये नहीं थे। सेवामें वश इतनाही किया कि आपके सामने माथा झुकाकर प्रणाम मात्रकर लिया। "सकृत प्रनाम किये अपनाये।" उन्हें लंकाका राज्य कल्पभरके लिये अचल दे दिया। इस प्रकारके आपकी कृतज्ञताके अनेक दृष्टान्त हैं। इसीपर वेद कहते हैं, कि सभी भगवदवतारोंमें श्रीराघवजूमें अपेक्षाकृत सर्वाधिक कृतज्ञता है। आपकी ऐसी कृतज्ञता देखकर, आपही की शरण ग्रहण करनी चाहिये, क्योंकि आप पूर्णकाम हैं। जीव क्या

देगा आपको? आप शरणागतकी करणीको खोजते नहीं। विना बदलेकी अपेक्षा किये, अपने मनसे, किये गये स्वल्प सेवापर रीझकर उसके ऋणीहो जाते हैं। बलिहारी ऐसी कृतज्ञता की !

❁ बल गुण ❁

दसमें बल गुन देखु अ।, सो पुनि षष्ट प्रकार।
आतम सुमस्त्र सुबन्धु रथ, मति विद्या दस चार ॥४६॥

दर्प दलन सब नृपनको, शिव कोदण्ड चढ़ाइ।
वरमाला उर धारि तहँ, आतम बल कवि गाइ ॥४७॥

सस्त्र बलाधिक जान जहँ, हते सहस दस चारि।
औरौ जहँ जस योग जहँ, सुमती लेइ विचारि ॥४८॥

संगर रंगमही हतौ, दसमुख परिकर युक्त।
सो बन्धूबल जानिये, औरो जहँ जस उक्त ॥४९॥

समा समीना आदि बहु दान करत रघुनन्द।
सुरनायक सतकोटि सम भोग महा सुख कंद ॥५०॥

सो रथ बल जिय जानि पुनि मतिबल ब्रह्म समासु।
विद्या कौसिक दै सकल यज्ञ रखायो तासु ॥५१॥

शब्दार्थ :—बल=कठिन कार्य करते रहनेपरभी थकता नहीं। "क्रियायामस्य गुर्व्यां तु खेदाभावो बलं गुणः।" (भगवद्गुण दर्पणे)। सहस दसचार=चौदह हजार सेना सहित खर दूषण। कोदण्ड=धनुष। संगर=संग्राम, युद्ध। रंगमही

=रणभूमि । परिकर युक्त=१- बानरी सेना सहित, २-रावण की राक्षसी सेना । उक्त=कहा गया गया है । समा=समय समयपर । समीना (फा०)=मूल्यवान वस्तु । सुरनायक= देवेन्द्र । रय=प्रताप ।

भावार्थ:—अब दशवें गुणका वर्णन करते हैं—यह बल-गुण है, यह छः प्रकारके हैं । १- आत्मबल, २- शस्त्रबल । ३ बन्धुबल,४-प्रतापबल,५-बुद्धिबल और ६-चौदहोंविद्याका बल ।

१-आत्म बलका दृष्टान्त है—श्रीजनकपुरकी रंगभूमिमें श्रीशंकरपिनाकको सहजही चढ़ाकर सभी शूरवीर नृपतियोंका अभिमान मिटा दिया । त्रिभुवन विजय सूचक श्रीमैथिलीजूके करकञ्जसे वरमाला हृदयमें पहन ली । इसी बलको विशेषज्ञों (कवियों) ने आत्मबल कहकर बखान किया है ।

२-शस्त्र बल—कहाँ चौदह हजार खरदूषणादि राक्षसी सेनाके असंख्य अस्त्र-शस्त्र आप पर बौछार किये जा रहे हैं, कहाँ आप अकेले उनके अस्त्र-शस्त्रोंको अपने बाणोंसे खण्डित करते हुये उन्हें एकएककर मार गिराया । यह आपका शस्त्रबल है । शस्त्रबलके और भी दृष्टान्त श्रीरामायणमें कहे गये हैं—सुमति सज्जन उन स्थानोंके प्रसंग पढ़कर स्वयं बिचार करलें।

३-बन्धुबल—लंकाकी रणभूमिमें असंख्य सैन्य सहित रावणको वानरी सेनाकी सहायतासे मार दिया, यह आपका बन्धुबल है । औरभी श्रीरामायणमें जैसे कहे गये हैं, उन्हें भी बन्धुबलमें गिनतीकर लेनी चाहिये ।

४- समय-समयपर असंख्य याचकोंको नानाप्रकारकी बहुमूल्य वस्तुओंका उनकी आवश्यकतानुसार दान देते रहते हैं, तथा इन्द्रसे भी अनन्तगुणा अनन्त नायिकाओंके सहित बिहार करते रहते हैं। उन रमणियोंके लिये आप महान भोग सुखके रस बरसानेवाले श्यामजलद (कंद) हैं। यह आपका प्रताप बल हुआ।

५- बुद्धिबल—मुनिगणोंकी गोष्ठी जब ब्रह्मविचार करने लगती है, वहाँ अपनी बुद्धिसे आप निगूढ़ रहस्योंकी ग्रन्थि सहजही खोल देते हैं। बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी आपकी पैनी बुद्धि देखकर चकित रह जाते हैं। इसे प्रत्युत्पन्नमति कहते हैं।

६- विद्याबल—श्रीविश्वामित्रजीने आपको बला-अतिबला नामक विद्या दी, वहतो आपका नरनाट्य मात्र था। आप स्वतः चौदह विद्याके निधान हैं।

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही।
विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्ही॥

उसी विद्याके बलसे श्रीविश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाकी।

❀ वीर्य गुण ❀

अति कराल शंकर धनुष, पचि हारे भूपाल।
सो गज पंकजनाल इव, तोरयो श्रीरघुलाल॥५२॥
अत्र विचित्र विचारिये, महावीर्य रघुनन्द।

श्रीवाल्मीकीय रामायणमें श्रीराघवजूने उत्तेजनामें आकर परशुरामजीसे कहा—मेरे तेजका आप तिरस्कार करते हैं। आज मेरा पराक्रम देख लीजिये। ऐसा कहकर उनके हाथसे साङ्ग धनुष एवं बाण सहजहीमें छीन लिया। श्रीपरशुरामजीने मुहताकते हुये अपना सारा तेज गँवा दिया।

अवजानासि मे तेजः पश्यमेऽद्य पराक्रमम्।
इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधं
शरंच प्रतिजग्राह हस्ताल्लघु पराक्रमः ॥१.७६।३,४॥

❀ माधुर्य गुण ❀

लखि अद्भुत मुख चन्द्रमा, मिथिलापुरकी बाल।
नैन तृप्त नहि नेकहूँ, पलकन मानत साल ॥५४॥
इत अतीव माधुर्य पुनि, कह्यो मुनीशन गाय ॥

शब्दार्थ :—बाल=नवयौवना सुन्दरी। साल=पीड़ा। माधुर्य=नवायमान रूपशोभा।

भावार्थ :—श्रीअवधेशनन्दन लाडिलेलालजूके श्रीमुखको चन्द्रमासे उपमितकर, बताया कि यह अतीव आह्लादवर्धक प्रियदर्शन है। आकाश चन्द्र दिनमें मलीन हो जाता है। इनमें दिनमें शोभाका निखार और सरस हो जाता है, अतः अद्भुत चन्द्र है श्रीमुखमंडल। बालास्वरूपा अनूपरूपा जब श्रीमैथिलीजू की दृष्टि इनपर पड़ी, तो रूपामृत पान करते करते तृप्ति नहीं हो रही है 'अद्भुत छविकी माधुरी छिन छिन औरहि और॥'

पलक गिरनेपर दर्शनव्यवधान हो जाता है। अतः पलक गिरना भी पीड़ादायक हो गया।

देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखे।
पलकन्हिहु परिहरे निमेषे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी।
सरद ससिहि जिमि चितव चकोरी॥

उसी भाँतिसे नाना खगमृगगणभी आपकी माधुरी पान कर उन्मत्त हो रहे हैं और पलक गिरानेकी सुधि नहीं है।

तथैव नाना खगाः मृगाश्च माधुर्य मत्ताः सखि! निर्निमेषाः।
— श्रीमाधुर्यकेलि कादम्बिनी।

यहाँ श्रीजानकीकान्तजूके रूपमें निरतिशय माधुरी है। चरित वक्ता मुनीश्वरोंने गाया है।

❀ आर्जव ❀

भयो कुतुक फुलवाइ जस, आर्जव हिया दिखाय॥५५॥

शब्दार्थः- कुतुक = विनोदपूर्ण उत्कंठा। आर्जव = सरलता

भावार्थ :—श्रीजनकपुरके गिरजाबागमें श्रीमिथिलेश-राजदुलारीजूसे प्रथम मिलन हुआ। इससे उनके पाणिग्रहण विषयक प्रबल उत्कंठा जगी। यह युवक-युवती सम्बन्धी गोप्य

वार्ता गुरुजनोंसे नहीं कही जाती, परन्तु श्रीअवधसुन्दरजू ऐसे सरल स्वभावके हैं कि फुलवारी वाली सारी घटना गुरु श्रीविश्वामित्रजूसे कह सुनायी। मनमें छलकपट होता, तो छिपता भी। यह आपका आर्जव-गुण है।

हृदय सराहत सीय लुनाई।
गुरु समीप गवने दोउ भाई॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं।
सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥

❀ गुण उपसंहार ❀

सप्तसिन्धु सीकरन को, क्रमते गनै जु कोइ।
ताहूँ सों सियरामके, गुनकी मिती न होइ॥५६॥

शब्दार्थः—सीकरन=जलकण। मिती=गिनतीका अंत।

भावार्थः—कोई ऐसा चतुर गणक हो, जो सातों समुद्र के जलकणोंको एक-एक कर गिन डाले। उस गणकसे भी कहा जाय कि आप कृपया श्रीसीतारामजूके अनन्तगुणगणोंकी गिनती कर दीजिये, तो वह भी गिनकर पार न पावेंगे।

राम अनन्त अनन्त गुनानी।
जन्म कर्म अनन्त नामानी॥
जलसीकर महि रज गनि जाहीं।
रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥
—७।५२।३, ४

❀ उपासना प्रसंग ❀

गुन लच्छन दरशन कहे, जहाँ यथा उपयोग।
अब उपासना अंग सुनु, जाकरि मिटै प्रयोग ॥५७॥
उपदेष्टा निष्टा पुनी, रामभक्त में आनु।
धनुषादिक संस्कार में, तिहूँ विशेषता जानु ॥५८॥
गति अनन्यता धारणा, षट परत्व माधुर्य।
तासु उक्ति अरु युक्ति बहु, तामें अति चातुर्य ॥५९॥
सात अंग यह मुख्य जिय, लखु उपासना केर।
औरौ कहे अनेकसो, पूर्व भागमें हेर ॥६०॥

शब्दार्थ :—दरशन=परिचायक अर्थ। उपयोग=लाभ। प्रयोग=तांत्रिक साधन। उपदेष्टा=दीक्षागुरु। निष्टा=टिकाऊ श्रद्धा भक्ति। धनुषादिक=पञ्चसंस्कार। तिहूँ=उनमें भी। धारणा=धारण करना। षट परत्व=अपने इष्टमें सर्वाधिक, १-ज्ञान, २-शक्ति, ३-बल, ४-ऐश्वर्य, ५-वीर्य और ६-तेजका परिमाण मानना। माधुर्य=भूमंडलके नरजाति समान लीला। उक्ति=वचनके द्वारा मनोभाव प्रगट करनेकी शक्ति। युक्ति=कथनढंग। चातुर्य=कुशलता, प्रवीणता। पूर्वभाग=इसी ग्रन्थ के पहले भागमें। हेर=देख लीजिये।

भावार्थ :—ऊपर श्रीजानकीरमणलालजूके कुछ दिव्य-गुणगण कहे गये। उनके लक्षण, अर्थ, तथा शरणागतोंकेलिये

उन गुणोंके स्मरणसे कहाँ कैसा लाभ होगा—यह सबकुछ साथ-साथ कह दिये गये ।

अब उपासनाके सात अंग गिना रहे हैं। इनको समझ लेनेसे अधोगति देनेवाले तांत्रिक साधनोंमें रुचि मिट जायगी। वाममार्गी कौल क्षुद्र देवतादेवियोंके मन्त्रसिद्ध करके उससे विषयभोग सामग्री जुटाते हैं ।

१—श्रीसीताराम मन्त्र तथा सम्बन्ध—उपदेशक सद्गुरु में स्थायी श्रद्धाभक्ति रखना। २—सामान्यतः रामभक्तोंमें, विशेष रूपसे सीतारामीय रसिक सन्तोंमें भी निष्टा रखनी चाहिये । ३—सदगुरुसे प्राप्त तुलसीकंठी, तिलक, पंचमुद्रा छाप, मन्त्र तथा शरणागति-सूचक नाम—इन पाँचो संस्कारोंमें भी निष्टा बनाये रखें। ये तीनों उपासनाके विशेष अंग हैं। ४- अपने इष्टमें रूपानन्य (अर्थात् एकमात्र आपहीके रूपका दर्शन, ध्यानका अनन्यव्रत), धामानन्य, नामानन्य, गुणानन्य, प्रसादानन्य और रसोपासनानन्य। छः प्रकारकी अनन्यता धारण करनी चाहिये। ५—हमारे इष्टमें १-ज्ञान, २-शक्ति, ३-बल, ४-एश्वर्य, ५-वीर्य तथा ६-तेज सभी ब्रह्मके सगुणरूपोंसे अधिक है। यह षटपरत्व हुये। आपके अनन्तगुणोंमें ये छः प्राथमिकगुण हैं, इनके बिना भगवान् नामकी सार्थकता नहीं होती ।

तवानन्त गुणस्यापि षडेव प्रथमे गुणाः ।
ज्ञान शक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः ।

भगवच्छन्द वाच्यानि विना हेयै र्गुणादिभिः॥

— श्रीभगवद्गुण-दर्पणे ।

६—अपने भक्तोंको माधुर्यानन्द प्रदान करनेके लिये, प्रभु अपने ऐश्वर्यको छिपाकर लोकवत् लीला करते हैं । यही आपका माधुर्य है । "लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ।" ब्रह्मसूत्र २। १।३३—ऐसे माधुर्य चरितका विशेषरूपसे चिन्तवन करना उपासनाका छठा अंग है ।

७—जिज्ञासुओंकेबीच अपने उपासना सिद्धान्तको युक्ति संगत वचनों द्वारा स्थापित करनेकी प्रवीणता धारण करना, सातवाँ अंग है । उपर्युत सातों अंग मुख्य हैं । कुछ उपासना के और अंग भी हैं, जिन्हें पूर्वभागमें विवेचित किये गये हैं ।

उप अव्यय समिपार्थ पुनि, आस् प्राप्त्यर्थक धातु ।
ल्युट् प्रत्यय कर सिद्ध सो, शब्द उपासन ख्यात ॥६१॥
जा करिकै उपास्यको, प्राप्त उपासक होइ ।
कहिये ताहि उपासना, बिनु गुरु लहै न कोइ ॥६२॥
बिनु उपासनाज्ञान जिय, और ज्ञान सब तुच्छ ।
नृपती बिना अनीकनी, सोहत नाहीं कुच्छ ॥६३॥
कृति कृतज्ञता विज्ञता, जग अजात आराति ।
ये सब रहित उपासना बिनु वर, यथा बराति ॥६४॥

भावार्थ :—अब उपासन शब्दकी व्युत्पत्ति कहते हैं । व्याकरणशास्त्रमें उप को शब्दके आदिमें जोड़ने वाला उपसर्ग

कहते हैं। इसके रूपमें विकार नहीं होता है, अतः सभी उप-सर्गोंकी भाँति यह भी अव्यय कहाता है। उप यहाँ सामीप्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। आस् धातु है, इसका अर्थ है प्राप्ति कराना। ल्युट् प्रत्यय लगनेपर प्रसिद्ध उपासन रूप सिद्ध है। उप + आस् + ल्युट = उपासन।

उपर्युक्त तीनों अंगोंसे व्युत्पन्न उपासन शब्दका अर्थ कहते हैं। जिसके द्वारा उपासक भक्त अपने उपास्य इष्टदेव की समीपता प्राप्त करे, उस साधनका नाम है उपासना। यह गुरु कृपा सुलभ है। बिना गुरुके शरणापन्न हुये उपासनाका मर्म किसीकी समझमें आता नहीं, न वह फलित होती है।

उपासनाकी जानकारी नहीं हुई तो और ज्ञान किस काम का? हमारे लक्ष्य प्राप्तिमें जो सहायक नहीं हुआ, उस ज्ञानको धोधोकर चाटेंगे नहीं। सेनानायक राजाके बिना अनीकनी अर्थात् सेना कोई शोभा नहीं पाती। उच्छृंखल होकर, प्रजा को लूटेगी।

कोई अधिक पुरुषार्थी (कृति) है, कृत उपकारको मानने वाला कृतज्ञ है, बड़ा जानकार है (विज्ञ)। संसारमें अजात शत्रु होकर जन्म लिया है। अर्थात् ऐसा निर्वैर है कि उसके शत्रु संसारमें उत्पन्नही नहीं हुये। इन सब बड़े दुर्लभ गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी, यदि श्रीराम उपासनामें निरत नहीं है, तो बिना दूलहाके सजेधजे बारातके समान सर्वगुण वृथा हैं।

अति लघु देव उपासना, करत छुद्र मति सोइ।
छिनक तनक सी चांदनी, तुरित अंधेरी होइ ॥६५॥

नारायन उपासना, तासु श्रेष्ट अति आनि।
करत कोउ ये शांत नर, अपवर्गद अनुमानि ॥६६॥

परतर रसद उपासना, रामसियाकी जानि।
जैसे देखत कंदके, गुड़ चीनी सकुचानि ॥६७॥

भावार्थ :– ब्रह्मा, विष्णु, महेश– ये त्रिदेव महान् हैं। इन्द्रपुरीके देवता लघु हैं। "पिशाचों गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।" इत्यमरे भूत, पिशाच गुह्यक, सिद्ध भी देवयोनि अन्तर्गत है, पर है अति लघु। इष्टदेवता जितने महान होंगे, उनकी सिद्धि भी उसी तारतम्यसे, क्लिष्ट एवं विलम्बसाध्य होगी। अतिलघु देवताकी क्षुद्रसिद्धि अनायास और अविलम्ब हो जाती है। अतः क्षुद्रबुद्धिके साधक क्षुद्र चमत्कार देखकर, उसकी साधनामें जुट जाते हैं। इनकी सिद्धिसे परमार्थ तो बनता नहीं, न हृदयको सुख शान्ति मिलती है। अतः इसकी मोहकता शीघ्र मिट जाती है। जैसे पावस कालमें बादलोंके फटनेपर तनकसी चाँदनी छिटक गई, पुनः सघनघनाच्छन्न आकाश के कारण पुनः अन्धकार छा जाता है।

हाँ, भगवान् श्रीमन्नारायण सगुणब्रह्म हैं। देव-उपासना की अपेक्षा इनकी उपासना अतिश्रेष्ट है, ऐसा विचार हृदयमें लाना चाहिये। परन्तु चारभुजा, गरुड़ वाहन, एवं शेषशयन होने से, तथा मातृपितृकुल व्याह लीलादिके अभावमें इनकी उपासनामें माधुर्यभाव बनता नहीं। यही कारण है कि दास्य,

सख्य, वात्सल्य और शृंगार भाव इसमें नहीं है। एकमात्र शान्तभाव वाले भक्त आपकी ऐश्वर्य-परक उपासना करते हैं। उपासना माधुरीही भगवद्धाम तथा प्रभुके नित्य कैंकर्यकी रुचि जगाती है। शान्तभाव वाले अधिकांश रूपसे निर्माण मोक्षकी ओर वहक जाते हैं। निर्गुण उपासनाकी अपेक्षा भगवान् नारायणकी ऐश्वर्यमयी उपासना निर्वाण देनेमें अधिक सक्षम है। वहाँ के शून्य ध्यानसे यहाँ के साकार स्वरूपका ध्यान सुगम है।

श्रीवृन्दावनबिहारीलालकी सरस उपासनामें पञ्च संबन्ध भाव बनता है। अतः श्रीमन्नारायण उपासनासे परे है। चराचर विमोहन रूपोत्कर्ष, राजमाधुरी एवं चरित्रनिर्माणकी आदर्श मर्यादा श्रीसीतारामजीमेंही है। अतः इनकी उपासना परतर है। सौन्दर्याधिक्य होनेसे श्रीरामोपासना अधिक रसनीय, आस्वाद्य है भी। अतः श्रीनारायण-उपासना गुड़ है, श्रीकृष्ण उपासना चीनी है तो श्रीजानकीवल्लभजूकी उपासना मिश्री है। मिश्रीके स्वादके आगे गुड़ चीनी हल्की हो ही जायगी।

नरहरि वामन परसुधर, कृष्णचन्द्र बलराम।
मच्छ कच्छ बाराह पुनि, बुद्ध कल्कि अभिराम ॥६८॥
ये दशहू अवतार सियराम उपासक जान।
रामसिया पद त्यागिकै, जनि उर धारै आन ॥६९॥

भावार्थ :—भगवान् नृसिंह, वामन, परसुराम, श्रीकृष्णचन्द्र, बलराम, मत्स्यावतार, कच्छपरूप, वाराहभगवान, बुद्ध-

भगवान एवं कल्कि—ये दशो सगुणब्रह्महीके अवतार हैं। परन्तु ये सभी अंसकला होनेसे परिपूर्ण ब्रह्म श्रीसीतारामजीकेही उपासक तथा सेवक हैं। अतः दसो अवतार श्रीसीतारामजीही की उपासना करते हैं। पूर्वभाग दोहा ३७ में तथा वहाँ की टीका में यही बात कही गई है। अपने इष्ट श्रीजानकीरमणका ऐसा परत्व जानकर, हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने हृदयमें एकमात्र इन्हीं युगलकिशोरजूके पादारविन्दका ध्यान करें। 'रोकिहौं नैन विलोकत औरहि।' अनन्यता उपासना की नाक है।

❀ भक्ति ❀

रहित सकल अभिलाष करि, उभय कांड कर हीन।
सुमिरन सिय रघुनन्दको, ताहि भक्ति जिय चीन ॥७०॥

शब्दार्थ :–अभिलाष=चाह। उभयकांड– १–ज्ञानकांड और २–कर्मकांड। चीन=पहचानना।

भावार्थ :—यहाँ उत्तमा भक्तिकी परिभाषा लिखते हैं। भक्तिकी सिद्धिकेलिये भोग और मोक्षकी चाह मिटानी पड़ती है। एकमात्र श्रीसीतारामजीके पादारविन्दमें अविच्छिन्न उत्त-रोत्तर वर्द्धमान प्रेमकी कामना रह जाती है। श्रुति प्रतिपादित अद्वैत ज्ञान तथा स्मृति निरूपित स्वर्ग देनेवाले कर्म-इन दोनों से रहित केवल विशुद्धा भक्तिका आश्रयण करना। श्रीयुगलमन-भावन मैथिलीरघुनन्दनजूका अखंड स्मरण अपनी इतिकर्त्तव्यता रहजाय। अपने हृदयसे इसेही भक्तिका स्वरूप पहचानना

चाहिये। इससे मिलती-जुलती परिभाषा श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धुमें दी गई हैं—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

सो पुनि त्रिधा बखानिये, साधन भाव रु प्रेम।
साधन सोई जानिये, जामें बहु विधि नेम॥७१॥

भावार्थ:—भक्तिकी क्रमशः तीन भूमिकायें हैं। १-पहली साधन, दूसरी भाव और तीसरी भक्ति।

साधन उसे समझना जिसमें अनेकों प्रकारके नियम-भजनका विधान होता है। तीव्र साधनमें जुटनेपर क्रमशः भाव के उदय तक कई भूमिकायें पार करनी पड़ती हैं।

श्रद्धा अरु विश्रंभ पुनि, निज सजाति कर संग।
भजन प्रक्रिया धारना, निष्टा रुची अभंग॥७२॥
पुनि अनर्थ कर त्याग सब, यह लच्छण उर आनु।
प्रथमहि साधन भक्ति के, ताकरि भाव बखानु॥७३॥

भावार्थ:—शास्त्रश्रवण एवं सन्तोंके दर्शन सत्संग से, विशेषकर प्रभुकृपासे साधकके हृदयमें सर्वप्रथम श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है। श्रद्धा बढ़नेपर अपने इष्टके प्रति विश्वास जमता है। तब भजनकी रीति-भाँति सीखनेकेलिये अपने सजातीय रसिक सन्त-महात्माओंके संग करनेकी प्रवृति होती है। उनसे सीख कर साधनभूता नवधाभक्तिका आचरण (प्रक्रिया, में लग (धारना)

जाना होता है। भजनके परिणाममें स्थायी संलग्नता (निष्ठा) भजनके प्रति बढ़ती है। तत्पश्चात् भजनका स्वाद (रुचि) मिलने लगता है। तब सुरुचिपूर्वक अखंड भजन भावना बनने लगती है। तब भोगलालसारूपी अनर्थका त्याग होता है। इस प्रकारके साधनभक्तिसे भक्तिपूर्व भावका उदय होना कहा गया है। इससे मिलता-जुलता भाव श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धुमें इस प्रकार दिया गया है।

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्टा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति॥

❀ श्रद्धादि-लक्षण ❀

क्रियारंभके प्रथमहीं, उपजे उर आनन्द।
क्रिया विषै दुख सहनता, फँसै न आलस फंद॥७४॥
ये तीनो बुध कहत कहत हैं, श्रद्धाके अनुभाव।
श्रद्धा संपति होय घर, तब वस्तूकी चाव॥७५॥

शब्दार्थ :—विषै = मध्यमें। अनुभाव = लक्षण। चाव = लालसा।

भावार्थ :—श्रद्धा शब्दका अर्थसूचक कोई प्रतिशब्द नहीं है। अतः इसका लक्षण बताते हैं। १-जिस पारमार्थिक कार्य अर्थात् साधनके प्रति श्रद्धा जगती है, वह अभी प्रारम्भ करने

ही वाले हैं। पहलेसेही हृदयमें भावी फलाशासे आनन्द उमग रहा है। २-साधनमें लग जानेपर, चाहे कितनेभी विघ्न आकर अनेक भाँतिसे दुख दें, तौभी कष्ट सहनपूर्वक साधनमें जुटे रहना, और ३-आलस्य प्रमादके फन्देमें न फँसना। बुद्धिमान् सज्जन श्रद्धाके ये तीन लक्षण बताते हैं। अपने हृदयरूपी भवनमें कृपासे प्राप्त श्रद्धारूपी सम्पत्ति होती है, तब परमार्थ सिद्ध करनेकी लालसा जगती है।

श्रद्धा विना धर्म नहि होई।
बिनु महि गन्ध कि पावइ कोई ॥

❀ विश्वास लक्षण ❀

सुनि लखि नहिं लोकीकमें, दरसन नहि आम्नाय।
सो सुनि चित साँची गहे, सो विश्वास सुभाय ॥७६॥

शब्दार्थ :—आम्नाय=वैदिक साहित्यमें।

भावार्थ:—अपने सद्गुरुदेवने अथवा किसी सच्चे सन्तने कुछ ऐसी विलक्षण बात बताई है, जो इस लोकमें न कभी देखनेमें आई, न सुनने में। वैदिक साहित्यमें भी इस चीजकी कहीं चर्चा नहीं है, परन्तु सन्त गुरुवचन तो अन्यथा हो नहीं सकते। जो बताया बिल्कुल सही है। इस प्रकारका सहज विश्वास आप्तबचनोंमें होना चाहिये। विश्वासका यही स्वरूप है।

❀ निष्ठा लक्षण ❀

जामें करिये भाव पुनि, सोइ परीक्षा लाग।
बहु विधि चित उदवेगहीं, तदपि तासु नहि त्याग॥७७॥

यह निष्ठा अनुभाव लखि, जाके उरमें होय।
ताको कछु संशय नहीं, मिलैं रामसिय दोय ॥ ७८
जामें प्रीति लगाइये, लखि कछु तिहि विपरीत।
जिय अभाव आवै नहीं, सो निष्ठा की रीत ॥ ७९

शब्दार्थः— उद्वेगही = व्याकुल बनादेता है अनुभाव = लक्षण। विपरीत = उलटी रीति। अभाव = प्रेमकी कमी।

भावार्थः—हमने जिस प्रियतम इष्टसे प्रीति जोड़ी है, वही प्रीति परीक्षा कररहा है। जाँचनेमें अनेको कष्ट देकर चित्तको बेचैन बनारहा है। तो क्या हम उसे छोड़ दें ? कभी नहीं।

"अगिन जरावो जलमें बोरौ, सर्वस मेरो कोइ लूटै।
टूक टूक तनको करि डारौ तब न हरि सौं टूटै॥"
— लगन पचीसी से।

हम तो यही कहेंगे किः—
आप सुखी रहैं प्रान प्रानिनी, मोहि चहौ तिहि भाँति कसौ री॥
श्रीकृपानिवास पदावली से।

यही निष्ठाका लक्षण है। यह निष्ठा जिसके हृदयमें जमी होगी, उसे श्रीसीताराम युगलकिशोर चित्तचोरजू अवश्य मिलेंगे। तनकभी संशय नहीं।

जिसमें प्रीति लगाई है, वही प्रतिकूलकी भाँति निठुर होकर सता रहा है। तौभी उसके प्रति प्रेममें किंचित्‌भी कमी न आने पावै। निष्ठा निबाहन रीति तो यही है।

"हमें निष्ठाका सबक सीखना है, चातकसे और सोनेसे॥
जगत प्रेम विश्वविद्यालय है।

"जलद जनम भरि सुरति विसारउ। जाचत जल पवि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटें घटि जाई। बढ़ै प्रेम सब भाँति भलाई॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निवाहे॥"

दरस परसमें सुख बढ़ै, बिनु दरसन दुख भूरि।
यह रुचिकै अनुभाव लखि, करौ न रघुवर दूरि॥ ८०

❀ भाव भक्ति लक्षण ❀

भाव भक्ति तब जानिये, यह जिय होय सुभाय।
क्षमा विरक्ति अमानता, काल वृथा नहिं जाय॥ ८१
मिलन-आस-रजु बद्धचित, पुनि उत्कंठा जान।
आसक्ति तदगुन कथन, प्रीति बसत अस्थान॥ ८२
नामगान में रुचि सदा, यह नव लक्षण होइ।
सिय रघुनंदन मिलन को, अधिकारी लखु सोइ॥ ८३

भावार्थ:— जब नीचे गिनाये गये नौ लक्षण किसीके हृदयमें स्वाभाविक रूपसे जाननेमें आवे, तब समझना उसे भाव-भक्ति मिल गई और श्रीसीताराम युगल प्रभुको प्राप्त करनेका अधिकारी वह हो गया। नवों लक्षण इस प्रकार पठित हैं:—

१- अपने प्रति किये घोरसे घोर अपराध कोभी हँसते-हँसते क्षमा कर देना। २- संसारके सभी वैषयिक भोगोंका तन-

मनसे पूर्ण त्याग। ३- अपने सभी अभिमानमदको सर्वथा गला कर दीनहीन बने रहना। ४- क्षणक्षण प्रति भजन भावनाको संभालते रहना, एक पलभी भजनहीन न जाने पावे। ५- प्रियतम हृदयेश से मिलनेकी पक्की आशा रूपी डोरीसे चित्तवृत्ति उसी प्राण-रंजनके साथ बंध जाना॥ "आशा लगी है बड़ी जोर सजनमाँ तोसे मिलनकी।" ६- प्रियतम से मिलनेकी (उत्कंठा) छटपटी, व्याकुलता बनी रहना। ७- प्रियतम गुणगानमें कुछ ऐसा सुख स्वाद मिलता है कि गुणगान छोड़नेका जी नहीं करता। चित्त ऐसा लिप्त (आसक्त) हो गया कि छोड़नेका नामही नहीं लेता। ८-अपना घर तो वहीहै जहां अपना प्राणसर्वस्व रहता है। 'पियके भवनमा अवधपुर राजै, कनकभवन समसेर ही।' यहीं वसनेमें मनराजी है, अन्यत्रके लिये नाराजी॥ हमारा प्यारा श्रीअयोध्याके बाहर एक डेगभी नहीं जाता। "अयोध्यायां परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।" तब हम अपने प्राणेशको छोड़ अन्यत्र कहाँ जाँय? ९- साजबाजके साथ सांगीतिक रीतिसे नामकीर्त्तन करते रहनेमें रुचि हो, वह रुचि निरन्तर बनी रहे। आधा क्षण नामके बिना मृत्युसे बढ़कर दुखदायी प्रतीत हो।

"क्षणार्द्धं नाम संहीनं कालं कालातिदुःखदम्॥"

यही उपर्युक्त नवो लक्षण नवोदित भक्तिभाव सम्पन्न हृदयवाले बड़भागीमें पाये जाते हैं।

'क्षान्तिरव्यर्थकालत्व विरक्ति मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदारुचिः।

आसक्ति स्तद् गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसति स्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जात भावाङ्कुरे जने॥'

श्री हरिभक्ति रसामृत—

❀ प्रेमादि लक्षण ❀

विघ्न अनेकन होइ तौ, प्रीति रीति नहि हान।
आसक्ती नित नव बढ़ै, सो लखु प्रेम प्रधान॥ ८४

शब्दार्थः— हान=त्याग। आसक्ति=लगन।

भावार्थः—प्रेममार्गमें प्रायः तीन प्रकारके विघ्न आते हैं? १- प्रीति परीक्षार्थ स्वयं प्रियतम प्रदत्त। २- अन्य बाधक व्यक्ति प्रदत्त। ३- स्वयं अपने अन्तःकरण स्थित मायिक विकारोंके द्वारा उपस्थित। तीनोंमें से अनेकों विघ्न एकसाथ आकर प्रेमको मटियामेट करनेपर तुले हैं, तौभी प्रीतिरीतिको कणमात्रभी नहीं कमने देते। श्रीलगन पचीसीमें के द्वारा रसिकाचार्य श्रीमत्कृपा निवास स्वामीका आदेश है :—

"लगन टरे नहि सिर टारि जावो।" कुल सुख मुक्ति सुजात जान दै, लगन न तनक गँवावै॥ श्रीकबीरजी कहते हैं—

"नेह निवाहे ही बने, सोचै बनै न आन।
तन दै, मन दै सीस दै, नेह न दीजै जान॥"

विघ्न आनेपर प्रियतममें लगन औरभी अधिक बढ़ती रहती है।

"ज्यों ज्यों जरै कनक अरु नेही त्यों त्यों तेज सवायो॥"

यह प्रधान प्रेमका लक्षण है। मन्द, मध्यम और प्रौढ़ भेदसे तीन कोटिके प्रेममें यह प्रौढ़ होनेसे प्रधान है।

॥ स्नेह लक्षण ॥

स्नेह सुलक्षण जानिये, चित्त द्रवित लखि होय ।
तन धन विलग न मानही, तजे विछेदक जोय ॥८५॥

शब्दार्थ :—विछेदक=नेह नाता तोड़ डालने वाला ·

भावार्थ :—स्नेहके दो लक्षण लिखते हैं। पहला—अपने प्रियतमकी सुछवि प्रत्यक्ष, स्वप्नमें, आर्चाविग्रह रूपमें देखतेही हृदय पिघलने लगे। यहाँ लखना उपलक्षण है इससे प्रियतम-दर्शन स्पर्शन, प्रियतमचर्चा श्रवण, उनके गुण भाषण आदि सब क्रियायें आ जाती हैं। सभी हृदयको पिघलाते हैं।

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते ॥

दूसरा लक्षण यह है कि प्रियतममें अतिशय ममता हो जाती है। वह हमाराही है, हम उसीके हैं। ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता हैं। ऐसी स्थितिमें प्रियतम हमसे नेह नाता तोड़कर हमें त्यागदे, तौभी हम उसीके होकर रहें। उनसे पृथक हमारा है ही क्या ? न तन अपना, न धन अपना, सब तो उसीका है। श्रीविनयजीमें इस आशयके दो पद पढ़िये।

जो तुम त्यागो राम हौं नहिं त्यागो।
परिहरि पाँय काहि अनुरागो ॥ १७७ ॥

भयेहूँ उदास राम, मेरे आस रावरी ॥— १७८ ॥

उपर्युक्त अवस्था आती है, स्नेहोदय होनेपर।

❁ अनुराग लक्षण ❁

सिय रघुवर सम्बन्ध करि, दुख जो सुख इव भास ।

सियरघुबर सम्बन्ध बिनु, सुख सो दुःख निवास ॥८६॥

यह लक्षण अनुरागके, अनुरागी उर जान ।

ताको करि सतसंग पुनि, अपनेहूँ उर आन ॥८७॥

भावार्थ :—श्रीमैथिलीरघुनन्दनजूके संयोग सुख पानेके साधनमें कोटि-कोटि कष्ट उठाना पड़े, तो प्रेमी भावी मिलन आशामें मारे आनन्दके फूले नहीं समाते । उस आनन्दकी खुमारीमें यहाँ के सारे संकट सुख रूपमें परिवर्तित हो जाते है । यदि सुरपति सदन या ब्रह्मलोकका सुखानुभव हो रहा हो, और उसमें युगलकिशोरका न तो कायिक संयोग है, न मानसिक, तो वह सुख कोटि-कोटि नरकयातनावत् प्रतीत होता है ।

राउरि बदि भल भव दुख दाहू ।

प्रभु बिनु बादि परमपद लाहू ॥

तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद विधु, सुरपुर नरक समान ।

नाथ साथ सुरसदन सम परनसरन सुखमूल ।

यह लक्षण अनुराग का है । श्रीसीताराम-चरणानुरागी बड़भागी भक्तोंके हृदयमें ऐसे अनुरागका नित्य निवास होता है । यदि इस कोटिका अनुराग पानेके लिये आपका जी भी ललचाताहै, तो उन्हीं अनुरागवान् महानुभावका सत्संग कीजिये

'खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है।' अपने हृदयमें भी अनुराग लाकर बसा लीजिये। लक्ष्य तो यही रहे—

हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई।।

❀ प्रणय लक्षण ❀

लखु लक्षण यह प्रणय के, दृढ़ विश्वास जु होय।
बाढ़ै उर अति सख्यता, निज समता लखि कोय ।।८८।।

भावार्थः—प्रेमोत्कर्षदशामें भक्त भगवान्‌के हृदय परस्पर हिलमिलकर जलदूधके समान एकमेक हो जाते हैं। जी निश्चय मान लेता है कि अब तो उनके बिना मेरा बनेगा नहीं, मेरे बिना भक्तवत्सल प्रभुको भी नहीं रहा जायगा। ऐसा विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। हमारे प्रेमास्पद श्रीजानकीजीवनभी अवधेश राजकुमार और मैंभी अपने शुद्ध स्वरूपसे निमिवंशी राजकुमारी। जोड़ी सुन्दर बनीहै। हृदयमें उनकेप्रति सख्य अर्थात् समता भाव वाली निशंक मैत्री बढ़ने लगती है। उनके सुख में अपना सुख, उनके दुखमें निजी दुखकी अनुभूति होने लगती है, यह प्रणयका लक्षण है।

❀ ऐश्वर्याशया तथा माधुर्याशया उपासना ❀

लखु उपासना द्विविध सो, ऐश्वर्याशय एक।
द्वितिय माधुर्याशया, धारे यथा रुचेक ।।८९।।
द्विभुज परात्पर रामसिय, रासादिक करि युक्त।
ध्यावै नित गोलोक सो, ऐश्वर्याशय युक्त ।।९०।।

तथा अवधमें ध्यावहीं, रासादिक बहुरंग।
बीच बीच मिथिला गमन, चहूं बन्धु मिलि संग ॥६१॥
माधुर्याशय जानसो, रसल जनन सुखमूल।
करै सदा सोइ भावना, गहि लक्षण अनुकूल ॥६२॥

भावार्थ :—एक दृष्टिकोणसे उपासनाके दो प्रकार हैं। ऐश्वर्य भावसे तात्पर्य रखने वाली ऐश्वर्याशाया उपासना कहाती है। दूसरी है माधुर्याशया-इसमें माधुर्य भावकी प्रधानता होती हैं। दोनों सही हैं। साधक अपनी रुचिके अनुकूल दोनोंमें से कोई एक धारण कर सकते हैं।

ऐश्वर्याशयाका स्वरूप बताते हैं। ऊपरके सप्तलोकोंसे परे भूमि, अग्नि, जल आदिके सप्तावरण हैं। उसके पश्चात् विरजानदीके उस पार सप्तावरणमय नित्य भगवद्धाम हैं। मध्य में गोलोककी राजधानी श्रीसाकेतधाम हैं। वहाँ परात्परतम ब्रह्म नित्यद्विभुज श्रीसाकेतविहारीलालजू नित्य राजेश्वरी श्रीसाकेताधीश्वरी सियाजूके साथ अनन्त साकेत रमणियोंके मध्यरास-विलासादिक ललित लीलायें करते हैं।

तहाँ सखा नहिं दास पुरुष परिवर्ग न लहयाँ।
पुरुषोत्तम एक आप सखी सेवा महँ जहवाँ ॥

सेवामें किंकरीका नाम नहीं गिनाया, इससे वहाँ दास्य रसका भी अभाव सूचित होता है।

वहाँ की नायिकाओंको मायके, माता-पिताका वात्सल्य तथा ससुरालके सास-ससुरका दुलार प्राप्त नहीं होता है। वहाँ

केवल श्रृंगाररसका अखंड साम्राज्य है। बिना प्रजारूपी वात्सल्यादिरसोंके रसराज उतने रसनीय नहीं बनते। अतः वहाँ ऐश्वर्य प्रधान उपासना वाले पहुँचते हैं। यहाँ की भूतलस्थित अयोध्याभी नित्य है। महाप्रलयमें, सृष्टिके अभाव होनेके साथ जब पञ्चभूत वाले प्राकृतिक आकाशका नाश हो जाता है, तो यह अयोध्या चिदाकाशमें नित्यकी भाँति स्थित रहती हैं।

यहाँ भी नित्य रासविलासादिक रमणीय लीलायें निर्बाध रूपसे सदैव संचालित रहती हैं। अवतारलीलाका देशभी यही है। अतः मानवलोकके अन्यान्य देशोंसे यह दिव्य होते हुये भी अधिक साम्य रखती हैं। यहाँ नित्य परिजन–पुरजन भी रहते हैं। उनके साथ सभी सम्बन्धोंका रसानुभव होता है, जिसमें रसराजकी प्रधानता होती है। अवतार लीलासे मिलती जुलती यहाँ की नित्य विहारलीला है। नित्य मिथिला ससुराल में चारो भाई संगसंग पधारते हैं, और वहाँ का भी रसानन्द अनुभव करते हैं। यहाँ का नित्य विहार माधुर्य प्रधान है। यहाँ के सभी सम्बन्ध रस वाले परिकर नित्य हैं।

रघुकुलगुरु श्रीवशिष्टजी अपनी संहितामें ऐसाही कहते हैं।

नित्या इक्ष्वाकवः सर्वे नित्या रघुकुलोद्भवाः।
नित्योहं मुनयो नित्या नित्याः सर्वे च मन्त्रिणः॥
अयोध्यावासिनो नित्या ब्राह्मणा प्रमुखास्तथा।
नित्या भृत्याश्च दास्यश्च श्रीराजकुल सेवकाः॥

कौशल्या श्रीमती नित्यानित्यो दशरथो नृपः ।
कैकेयी च सुमित्राद्या नित्या श्रीराजयोषितः ॥
नित्या रघुकुलोद्भूता नित्यास्सर्वे कुमारकाः ।
नित्यं दशरथास्यांके स्थितस्य परमात्मनः ॥

आप यह न समझें कि यह एकपाद विभूतिवाली अयोध्या तो गौण है, त्रिपादविभूति वाला साकेतही अधिक महत्वपूर्ण होगा, क्योंकि वह ऊपर है। यह अयोध्या नीचे है। श्रीमत्कृपानिवास स्वामी अपनी अनन्यचिन्तामणिमें युक्तिपूर्वक कहते हैं कि तराजूपर अधिक ओजनवाली वस्तु नीचे रहती है। हल्का पलड़ा ऊपर चला जाता है। कारण अयोध्या यही है। इसीसे त्रिपादविभूति प्रगट हुई है। बीज धरतीमें रहता है। शाखापल्लव वृक्ष ऊपर उठ जाते हैं। ऊपरकी शाखाओंको रस देकर हराभरा तो नीचे वाला मूल ही करता है।

नित वैकुण्ठ अवधपुर आवै ।
सेवा करि पावनता पावै ॥
जैसे जलथानी अधमूला ।
ऊरध हरित डारि फल फूला ॥
हरि वैकुण्ठ अवधि दोउ तौले ।
गुरु हलकी को मोल अमोले ॥
गरवी अवधि रही ढरि नीचे ।
लघु वैकुण्ठ गयो उठि ऊँचे ॥

जल लों गुन ठहिरे थल गहिरै ।
सैल सिखा पानी कब ठहरै ?
— श्रीअनन्यचिन्तामणि ।

यही कारण है कि रसिकमहानुभाव सर्वरसोंका मूल इसी एकपादवाली अयोध्याको मानकर यहींकी माधुर्यलीलाकी सदा भावना करते हैं। ऊपर कहे सभी लक्षण वाली वस्तुओं में से अपने अनुकूल भावको ग्रहणकर लेते हैं।

श्रीअनन्यचिन्तामणिमें कहा गया है कि भूतल अयोध्या रूपी मानसरोवरमें हंसरूपी रसिक रहते हैं। ऊपरकी त्रिपाद-विभूति वाले साकेत (वैकुण्ठ) रूपी वृक्षशाखापर अन्यान्यपक्षी के समान भावुक रहते होंगे।

❀ साङ्ग भक्तिरस निरूपण ❀

भूमिका:—श्रीमधुसूदन सरस्वती रसकी परिभाषा लिखते हुये बताते हैं कि विभाव, अनुभाव, सात्विक और संचारीके सहयोगसे सुखद स्थायीभाव जिस आस्वादनस्वरूपा चित्तवृत्ति का सृजन करते हैं, उसीको रस कहा जाता है।

विभावैरनुभावैश्च सात्विकै व्यभिचारिभिः ।
स्थायिभावः सुखत्वेन व्यज्यमानो रसो भवेत् ॥

जो काव्यरसिक लौकिक लोगोंमें रसकी मान्यता रखते हैं, वे भ्रममें हैं। स्वयं परमानन्दस्वरूप भगवान्‌का स्वरूप जब तक मनोगत नहीं होता, तबतक यथार्थ रस कहाँ? रसकी परि-पूर्णता तो उनकी भक्तिमेंही है।

भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि ।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ॥

रसके प्राण हैं भक्तिभाव। इसके उदय विशुद्ध भक्तके हृदयमें ही संभव है। विशुद्ध भक्त भुक्तिमुक्ति रूपी स्वसुखको त्यागकर, अपने परमप्रियतम युगलकिशोरजूको कोटिकोटि प्रकारसे लाड़प्यार करते हुये, उन्हें भाँतिभाँतिकी सुखसंपादिनी सेवामें तत्पर रहते हैं। ऐसे तत्सुखे सुखित्व भक्तके हृदयमेंही आप भक्ति भावका यथार्थ स्वरूप पावेंगे। यदि अन्यत्र भक्तिभाव देखनेमें आवे, तो आप उसे भावाभास मानें। भावाभासके दो भेद होते हैं। १- प्रतिबिंब और २-छाया। अगले दोहेमें दोनोंके उपलब्धि-देश बताते हैं।

जासु भाव प्रतिबिंब जो, उर मुमुक्षु के होय।
भाव सुछाया जानिये, अज्ञ हृदय पुनि जोय ॥६३॥

शब्दार्थः—मुमुक्षु = मोक्षकी कामना वाले। अज्ञ = भक्तिके मर्मसे अनजान।

भावार्थः— निर्माण मोक्ष चाहने वाले ज्ञानी, ज्ञानमार्गसे मोक्ष पानेमें कठिनाई देखकर, भक्तिका अवलंब लेते हैं।

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।
ज्ञानवन्त अपि ते नर, पसु बिनु पूछ बिषान ॥

शास्त्रोदित रीतिसे ज्ञानमिश्रा वैधी भक्ति करनेमें मोक्ष-कामना भाव प्राप्तिकी बाधक बन जाती है। यथार्थ भक्तिभावसे

शून्य होते हैं ज्ञानी। ज्ञानाभिमानमें विशुद्ध भक्तको अल्पज्ञ मान-कर, उनका संगभी नहीं करते। कभी संयोग वश किसीसच्चे भक्तिका सम्पर्क हुआ, तो उनकी भजनक्रियामें विशुद्ध भक्तिभावके दर्शन करतेही, इनके हृदयमें भी उसका प्रतिविंब पड़ जाता है। ये भी उन्हींकी तरह रोमांच अश्रुपात आदि सात्विक दशा प्रगट करने लगते हैं। किन्तु इसे भाव प्रतिविंब मात्र समझकर, साधक उनका संग न करें। उनके संसर्गसे मोक्ष-मनोरथ आपके मनमेंभी आ जायगा। सच्ची-सच्ची भाक्तिसे वंचित रह जाइयेगा।

इस लोकसे लेकर परलोक तकके भोग मनोरथोंसे भरे कर्मकांडी, भक्ति द्वारा अनायास मनोरथ पूर्तिकी संभावना मान-कर, कर्ममिश्रा भक्तिका आचरण करते हैं। तत्सुखे सुखित्वभाव विरहित, भक्ति रहस्यसे अनजान, ऐसे व्यक्तिको भी यदि सौभाग्य-वश किसी सच्चे भक्तका संसर्ग हुआ, तो इनके हृदयके भावकी छाया कर्मकाडीके हृदयमें भी आ जाती है। छाया प्रतिविंबकी अपेक्षा अल्पकाल स्थायी और चंचल होतीहै। भोगस्पृहासे मलिन अन्तःकरणमें भावछाया मात्र पड़ती है। शमदम उपराम आदिसे संशोधित हृदय ज्ञानीही भाव प्रतिविंबके अधिकारी हैं। कहनेका तत्पर्य कि भाव छाया जन्य अश्रुपुलकादि देख साधक इनका संग न करें? असली भक्तिभाव सम्पन्न भक्तको खोजकर उन्हींका सत्संग करना विधेय है।

ऐसे तो भावका प्रविविंब या छायाभी मंगलमयी है किन्तु—

'ताते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न विनु पहिचाने॥'

उपर्युक्त भाव विचार हमने श्रीहरिभक्ति रसामृतसे लिया है।

स्थायी अनुभाव पुनि, लखु विभाव दुहुँ रीति।
सात्विक अरु संचारि पुनि, अरस परस रिपु मीत॥९४॥

शब्दार्थः— स्थायी = जो प्रेमकी दशा नित्य एकरस बनी रहे। अनुभाव = प्रेमानुभव प्रगट कराने वाले बाहरी लक्षण। विभाव = भावका उद्बोधक मनको किसी विशेष परिस्थितिमें पहुँचाने वाली अवस्था। सात्त्विक = भावोत्पन्न अश्रु, रोमांच आदि आंगिक विक्रियायें। संचारी = क्षणिक भाव जो किसी प्रधान स्थायी भावके बीचबीचमें उठउठकर उसकी पुष्टि करते हैं। अरसपरस = एक दूसरेके। रिपु = शत्रु। मीत = मित्र।

रसाभास पुनि जानिये, बिनु जानै रसरीति।
रसाश्रयन जो करत सो, होत अंग विपरीति॥९५॥

शब्दार्थः— रसाभास = रसका अनुचित विषयमें वर्णन। रसाश्रयण = रसका सहारा लेते हैं। विपरीति = उल्टा।

दोहा ९४, ९५ के भावार्थः— रसिक साधक रसरीतिसे भाव भावना करते हैं। अतः इनकेलिये पंच प्रकारके ब्रह्म सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले रस और इसके अंगोंकी जानकारी करलेना आवश्यक है। इसका स्थायी भाव क्या है? अनुभाव किसे कहना चाहिये? दो प्रकारके विभाव क्या हैं? अष्ट सात्त्विक भाव कैसे होते हैं. तैंतीस प्रकारके संचारी (व्यभिचारी) भावोंके क्या स्वरूप हैं? कौनकौन रस किनकिन रसोंके वैरी हैं? किनके-किनके मित्र हैं? साथसाथ रसाभासका स्वरूपभी जान लेना

चाहिये। किसी रसग्रन्थमें पढ़कर, अथवा किसी रसज्ञ महानु-भावसे सुनकर उपर्युक्त सभी रसांगोंका ज्ञानप्राप्त करलेना आवश्यक है। अन्यथा रसमयी उपासनाके सहारा लेने समय भावमें उल्टी रीति, गलत तरीका पकड़ा जायगा।

उद्दीपन आलंब पुनि, दोइ विभाव जिय जोय।
उद्दीपन भूषन वसन, आलंबन पुनि दोय ॥६६॥

शब्दार्थ:—उद्दीपन = स्थायी प्रेमको उत्तेजित करने वाली वस्तु। आलंब = जिसके सहारे रस की स्थिति हो।

भावार्थ:—आलंबन विभाव हैं आशिक और माशूक, प्रेमी भक्त और प्रेमास्पद युगलकिशोर दोनों। प्रेमास्पदके भूषण वसन कहीं अलग पड़ेदेखें तब, या श्रीअंगोंमें सजे देखें तो, उनकेप्रति प्रेम और उत्तेजित हो उठे, यह उद्दीपनविभाव है। (उद्दीपनविभावके अन्तर्गत वनशोभा, भ्रमर गुंजार, त्रिविध पवन आदि वाह्य वस्तुयें भी आती हैं) इस प्रकार विभाव दो हुये १-उद्दीपन विभाव और २-आलंवन विभाव।

एक विषय आलंब पुनि, द्वितियालंब अधार।
यथा राम आधार पुनि, विषय रूप गुन सार ॥६७॥
विषय विधान करि हृदय, भजे सो विषयोलंब।
विषय अनिच्छ अधार को, भजे आश्रयालंब ॥६८॥

भावार्थ:— आलंवन विभाव के जो दो प्रकार ऊपर कहे गये हैं। उनमें एक है विषयालंवन दूसरा आश्रयालंवन। ऐसे तो

भक्त हैं आश्रयालंवन, क्योंकि उनके हृदयको आश्रय बनाकर भक्ति वहीं ठहरती है। श्रीजानकीजीवनजू भक्तिप्रेमके विषय हैं। उन्हीं के प्रति प्रेम किया जाता है। अतः वे विषयालंवन हैं। पुनः ये दोनों आलंवन प्रेमास्पद श्रीजानकीरमणजू में पाये जाते हैं तथा उनके प्रेमी भक्तों में भी।

प्रेमास्पद राघवजू स्वयं तो आश्रयालंबन हैं तथा आपकेरूप गुण विषयालंवन हैं, जो भक्तप्रेमीके प्रधान अवलोकन चिंतन के विषय हैं। रूपगुणही प्रेमोत्पादक हैं। जो प्रेमी भक्त आपके रूपगुणों को हृदय में अनुसन्धान करते हुये आपका भजन करते हैं, वहतो विषयालंवीभक्त। जो आपके स्वरूप-मात्र का सहारा लेकर आपका भजन करते हैं, आपके गुणोंकी खोज नहीं है वह आश्रयालंवी भक्त हैं। यथा शांत रस वाले मुनिगण।

मनो विकार सो भाव पुनि, तद्बोधक अनुभाव।
हृदय उदय बिनु भावके, प्रीतम मिलन न चाव ॥६६॥

भावार्थः—यह दिव्य प्रेमका प्रभाव है कि मनोदशाको बदलकर औरके और करदे। इसे विकृत बना डाले। जो मन प्रेमोदय के पूर्व नानाप्रकारके विषयमनोरथों से इधर उधर भटका करता था, वही अब ऐसा विकृत, रूपान्तरित हो गया है कि केवल अपने प्रेमास्पद श्रीजानकीरमण को ही सदैव निरंतर स्मरण करता हुआ, परमानन्द का अनुभव करता रहता है। इस मनकी रूपान्तरित प्रेमदशा को ही स्थायी भाव कहते हैं। इस

प्रेमानन्दके अनुभवसे अंगोंमें अनेक प्रकारकी बाहरी चेष्टायें उत्पन्न होती हैं। ये चेष्टायें हृदयगत प्रेमभावकी परिचायिकाएँ हैं। इन्हें अनुभाव कहेंगे। हृदय में ऐसे प्रेमभावका उदय नहीं तो प्रियतम मिलनकी विरहोत्कंठा होनेसे रही।

शांत, सख्य, वात्सल्य पुनि दास्य अरू शृंगार।
ये पाँचो रसभक्ति के तामें सुची उदार ॥१००॥

शब्दार्थ:—सुची (शुचि०)=शृंगार (शृंगारे शुचिरुज्ज्वलः इत्यमरे) उदार=महान् बड़े। 'उदारो दातृ महान्' इत्यमरे।

भावार्थ:—रसात्मिकाभक्तिके पाँच प्रकार हैं— १-शान्त, २-सख्य, ३-वात्सल्य, ४-दास्य और ५-शृंगार। इन पाँचों में शृंगारभाव सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि शृंगारही रस-राज कहाता है तथा उच्चसेउच्च प्रेम दशा इसीके द्वारा प्राप्त होती है।

❀ शान्त रसके अंग ❀

प्रथम शांत रसके सुनु, द्विविध विभावानुभाव।
सात्विक अरु संचारि पुनि, थाई चिन्ह जनाव ॥१०१॥

भावार्थ:—सर्व प्रथम शांतरसके अंगोंको गिनाते हैं। उन अंगों के नाम हैं—१-दो प्रकारके विभाव, २-अनुभाव, ३-सात्विक भाव, ४-संचारी भाव और ५-स्थायी भाव सूचक लक्षण।

परब्रह्म परात्मा, नराकार भगवान् ।
इत्यादिक गुन आश्रयन, सो आलंबन जानु ॥

भावार्थः—ऊपर दो प्रकारके विभाव कहे गये हैं। उनमें आश्रयालंबन विभाव का स्वरूप यहाँ कहते हैं। उद्दीपन विभाव का अगले दोहे में कहेंगे।

हमारे इष्टदेव श्रीराघवेन्द्र यद्यपि द्विभुज मनुष्याकार हैं, परन्तु उनमें केवल ऐश्वर्य ही ऐश्वर्य है। वे परब्रह्म हैं, परमात्मा हैं तथा ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, और तेज—इनसे युक्त भगवान् हैं। शान्तरसके भक्त अपने इष्टके इन्हीं ऐश्वर्य प्रधान गुणोंका आश्रयण करके उनका भजन करते हैं। यही भजनीय वस्तु आलंबन विभाव है।

निशिदिन तत्व विचार पुनि, निवसत नग उद्यान।
यह लक्षण सब शांत रस, उद्दीपन जिय जान ॥१०३॥

भावार्थः—शान्तरसके भक्त दिनरात आनन्दमय ब्रह्मतत्वका चिंतन करते हैं। एकान्त समझकर चाहे नग नाम पर्वतपर बसेंगे या उद्यान नाम बनमें निवास करेंगे। यही लक्षण उनकी भक्तिको उत्तेजित करने वाले हैं। उन्हें उद्दीपन विभाव कहेंगे।

नासिकाग्र करि दृष्टि पुनि, धरै वेष अवधूत।
निर्ममता निर्वाक्यता तथा शास्त्र अनुस्यूत ॥

शब्दार्थः— नासिकाग्र=नाकके अगले छोरपर। अवधूत =त्यागी। निर्ममता=किसी वस्तु या व्यक्तिमें ममता (अपनपौ) न रखने वाला। निर्वाक्यता=मौन। अनुस्यूत=बँधे हुये।

भावार्थः — शांतरस वालोंके अनुभाव कहते हैं। इनका लक्ष्य भावःप्रेम प्राप्त करना तो है नहीं। इन्हें चाहिये ज्ञान। ज्ञानोदय होनेपर इनके अनुभाव, (बाह्यलक्षण) इस तरह प्रगट होते हैं। ये योगसाधना रीतिसे नाकके अगले छोरकी बिन्दुपर दृष्टि अड़ाकर त्राटक लगाते हैं। महात्यागीका वेष धारण किये हुये, न तो पात्र रखते, न शरीर पर वस्त्र, न रहनेका घर बनाते। सबोंसे ममता तोड़कर मौन धारण किये रहते हैं। स्मृति ग्रन्थोंमें यति धर्मका जैसा निरूपण किया गया है, उन्हींके आचरणरूपी बंधनमें जकड़े रहते हैं।

भगवत द्वेषी जनन सो नहि कछु जियमें द्वेष।

पुनि भगवतके भक्त जन, तासु न प्रीति विशेष ॥१०५॥

भावार्थः— प्रीतिरीति तो यही है कि प्रियतमका मित्र सो हमारा मित्र, प्यारेका शत्रु हमारा शत्रु। प्यारेका सुख हमारा सुख, प्यारेका दुख हमारा दुख। अपना न कोई शत्रु न मित्र, न सुख, न दुख। परन्तु ज्ञानी भक्तका पंथ इससे भिन्न है। उनको रागद्वेष निश्शेष रूपसे त्यागना है। अपने प्यारेका शत्रु हो या मित्र, इन्हें न किसीसे द्वेष न राग। संतोंसे भी स्नेह नहीं तब भगवानहीके प्रति राग क्यों? उनसेभी नेहनाता तोड़कर राग रहित हो जावो। अच्छा! तो आपको प्रेम नहीं चाहिये, तब क्या? मोक्ष! धन्य हो बाबा!! इस भक्ति मार्गमें आये ही क्यों? भक्ति साधनसे अनायास ज्ञान सिद्धिके लिये ज्ञानोदय होनेपर भक्ति त्याग देंगे। ज्ञानीजी यह भगवत भागवत प्रति उदासीनता

आपहीको मुबारक हो! आपके इस ज्ञान वैराग्यको दूरसे ही प्रणाम करते हैं।

अनूभाव यह शांति के, शांती के उर होइ।
ताकी संगति रसिक जन, सपनेंहुँ करैं न भोइ ॥१०६॥

भावार्थ:— शांतिरसमयी भक्तिवाले ज्ञानी पुरुषोंके यही बाहरी लक्षण उनके ज्ञानोदय परिचायक प्रगट होते हैं। जिनका वर्णन ऊपरके दोहेमें किया गया है। ऐसे प्रेमरससे शुष्क हृदय वाले शांतिमार्गीकी संगति रसिक साधकोंको भूलकर, स्वप्नमेंभी नहीं करनी चाहिये। जैसा संग तैसा हृदयपर रंग। शांत रसके उपासकोंमें आठमें से केवल सातही सात्विकभाव प्रगट होते हैं। उनमें प्रलय अर्थात् मरणासन्नदशा नहीं आती। वह दशा तीव्र अनुराग सापेक्ष है।

स्तंभ स्वेद रोमांच पुनि, कंप अरु स्वरभेद।
वैवर्ण्य अश्रूपतन, सात सात्विका भेद ॥१०७

शब्दार्थ:— स्तंभ=जड़वत् निश्चेष्टदशा। स्वेद=पसीना आना। रोमांच=शरीरके रोंगटे खड़े हो जाना। स्वरभेद=गद्-गद् कंठ। वैवरन्य=शरीरका रंग उतर जाना। अश्रूपतन=आँसू बहाना।

भावार्थ:— शाँतरस वालोंमें ऊपर गिनाये गये केवल सातही सात्विकदशा प्रगट होती है। वहभी तब जब सच्चे प्रेमी भक्तके हृदयका भाव उनके हृदयमें प्रतिबिंबित होता है। पिछला दोहा ६३ और उसकी टीका देखें।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि सात्विक दशा होती है तीन प्रकार की। स्निग्ध, दिग्ध, और रुक्ष। सो इन शांत रसवालों में स्निग्ध कोटि की सात्विक तो होंगे नहीं। रुक्ष कोटि के ही संभव हैं।

मति धृति अरु निर्वेदिता; अपस्मृति संभ्रान्ति।
वितर्कादि संचारि सब, स्थायी पुनि शांति॥

शब्दार्थ:—मति=शास्त्रादि विचारसे उत्पन्न निश्चय। धृति=(धैर्य सुखपाये फूले नहीं दुख पाये विललाय। सुखदुखमें समान भाव। निर्वेदता=भक्ति असहायक वस्तुओंका निरस्कार। "जरउ सो संपत सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ।" अपस्मृति=(मृगी) दुःखसे उत्पन्न चित्त व्याकुलता। भूमि पर गिरना, दौड़ना, शरीर फटने लगना, कंप, मुँह से झाग निकला, हाथ पैर फेकना, चिल्लाना इसके अनुभाव हैं।
संभ्रान्ति=आवेगा, घबड़ाहट। प्रिय, अप्रिय, वायु, वर्षा, उत्पात, गज तथा शत्रु द्वारा उत्पात से घबड़ा उठना। वितर्क=संशय उत्पन्न होने पर, तत्व निर्णयके लिये किया जाने वाला विचार। (उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु में व्याभिचारीभाव लहरी नामक प्रकरणके आधारपर किये गये हैं।

भावार्थ=रस शास्त्रोंमें संचारी या व्याभिचारीभाव तैंतीस (३३) प्रकार के गिनाये गये हैं—

१-निर्वेद, २-विषाद, ३-दैन्य, ४-ग्लानि, ५-श्रम, ६-मद ७-गर्व, ८-शंका, ९-त्रास, १०-आवेग, ११-उन्माद, १२-अपस्मृति, १३-व्याधि, १४-मोह, १५-मृति (मृत्यु), १६ आलस्य, १७ जड़ता, १८-व्रीड़ा, १९-अवहित्था, २०-स्मृति, २१-वितर्क, २२-चिन्ता, २३- मति, २४-धृति, २५- हर्ष, २६- उत्सुकता, २७-उग्रता, २८-अमर्ष, २९-असूया, ३०-चपलता, ३१-निद्रा, ३२-सुप्ति और ३३-बोध। बिस्तारभयसे प्रत्येकका अर्थ नहीं लिखा गया।

प्रस्तुत दोहेमें २३-मति, २४-धृति, १-निर्वेदता, १२-अपस्मृति, १-संभ्रान्ति अर्थात् १०-आवेग तथा २१-वितर्क नामक सात ही संचारी गिनाये गये। वितर्कादिमें आदि शब्द शेष और संचारी भावोंका उपलक्षण है।

इसका स्थायी भाव है शान्त भाव।

आगेके और चार भावोंमें वियोगकी दश दशाएँ भी गिनायी जायेंगी। शान्त भावसे सच्चा प्रेम तो होता नहीं, होता है प्रेमका प्रतिविम्बमात्र। बिना प्रेमके वियोग सम्भावना कहाँ? अतः वह गिनाना यहाँ अनावश्यक है।

❀ दास्यभावके रसांग ❀

अब चितदै सुनु दास्यके, अनुभावादिक चिन्ह।
चिन्ह बिना नहि लखि परै, भाव रीति जिमि भिन्न ॥१०९

भावार्थ :- पूज्य ग्रन्थकर्त्ता हमलोगोंको मनोयोगपूर्वक दास्य भावके अनुभावादिक लक्षण सुननेका आदेश करते हैं।

प्रत्येक भावके अनुभाव, विभाव, सात्विक भाव, संचारी भाव तथा वियोग दशाके दशलक्षण पृथक-पृथक होते हैं। इन लक्षण वैभिन्यके बिना एकभाववालेसे दूसरे भाववालेकी अलग-अलग प्रकारकी प्रीति रीति समझमें नहीं आती।

सर्वेश्वर सर्वज्ञप्रभु, अतिशय कृपानिधान।
इत्यादिक गुन आश्रयन, सो आलंबन जानु ॥११०॥

भावार्थ:—श्रीजानकीरमणलालके अनन्तानन्त गुणगणों में से पाँचों रसके भाववाले अपनी अपनी अभीष्ट सिद्धिके लिये अपने भावकेलिये उपयोगी कुछ विशिष्ट गुणगणोंका सहारा लेकर, आपकी उपासना करते हैं। शान्तभाववाले केवल ऐश्वर्य गुणका आश्रयण करते हैं। दास्यभाववाले ऐश्वर्यमाधुर्य दोनों गुणोंके आश्रयण करते हैं। उनमें माधुर्यकी अपेक्षा ऐश्वर्य की अधिकता होती है। यहाँ तीन ऐश्वर्य गुण तथा एक माधुर्य गुणके नाम गिनाये गये हैं।

तीन ऐश्वर्य गुण—१-हमारे स्वामी उभय विभूतिनायक परात्परतम ब्रह्म हैं। अत: त्रिदेवोंके, सभी अवतारोंके नियन्ता होनेसे सर्वेश्वर हैं। ज्ञान अखण्ड एक सीतावर, निबारण त्रिकाल ज्ञान सदैव एकरस एकमात्र आपहीमें देखनेमें आता है। ३- आप प्रभु हैं, सर्वसमर्थ हैं। असम्भव कार्य आपकेद्वारा सहज सम्भाव है। हमारे जैसे पतितका उद्धार आपहीसे सम्भव है। माधुर्य गुणमें आपके कृपा तत्वकी निरतिशयता है। हमारा सारसम्हार, भरण-पोषण, प्रीति रीति निर्वाह आप की कृपा करेगी।

ऐसेही और और गुणोंका आश्रयण करना इस भाव वालोंका आलम्बन विभाव है। आगे उद्दीपन विभाव का परिचय देंगे।

आठौ अंग प्रनाम पुनि, पद प्रक्षालन पान।
कृपादृष्टिकी चाह नित, सो उद्दीपन जान ॥१११॥

भावार्थः—घुटना, हाथ, पाँव, छाती, सिर, वचन, दृष्टि और बुद्धि इन आठों अंगोंसे प्रणाम करना, स्वामीके चरण धोकर चरणामृत पीना, स्वामीकी कृपादृष्टि निरन्तर चाहना—यही दास्यभाव वालोंके उद्दीपन विभाव हैं।

आज्ञा शिरधारै सदा, सेवन चतुर अमान।
ढीठ वचन बोलै नहीं, यह अनुभाव वखान ॥११०॥

भावार्थः—कैसे जानिये कि इनमें दास्यभाव वाली प्रभु प्रीति स्थायीरूपसे जम गई है? उस हृदयस्थ गुप्त प्रीतिको प्रकट अनुभव करानेवाले लक्षण (अनुभाव) स्पष्ट रूपसे इनमें देखने में आवेगा। कौन कौन परिचायक लक्षण हैं?

'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' स्वामी आज्ञाको शिर पर चढ़ाकर आदर करेंगे तथा अक्षरशः पालन करेंगे। सभी अभिमानोंको त्यागकर, नम्रतापूर्वक सेवा करनेमें परम प्रवीण इन्हें देखियेगा। स्वामीसे अतिसंकोच पूर्वक बात करेंगे। ढिठाई के वचन इनके मुखसे कभी निकलेंगे नहीं।

पूर्व कहे ते प्रलय युत, अष्ट सात्विका जान।
तन मनको जो छोभई, ताहि सात्विकामान ॥११३॥

भावार्थ :—शान्तभाव वालोंमें- १-स्तम्भ (जकथक-दशा), २-स्वेद (पसीना), ३-रोमाञ्च, ४ कंप (शरीरमें कँप-कँपी), ५ स्वरभंग, ६-विवर्णता, तथा ७-अश्रुपत- ये सातही सात्त्विक दशाका उदय होना बताया गया था। (देखिये दो० १०७) दास्यरतिमें आँठवा प्रलय अर्थात् मूर्च्छाभी सम्भव है। अतः यहाँ आठो सात्विक भाव समय-समयपर उदित होते हैं। यहाँ सात्विक दशाके लक्षण लिखते हैं। ऐसे रज, तम, सत् तीन मायिक गुणोंमें सतोगुण भी सत्व कहाता है, परन्तु यहाँ सत्व चित्त अर्थमें लिया गया है। वह चित्तभी श्रीरामप्रेमसे संक्रान्त होता है, तभी सत्व वाचक होता है। अवस्था विशेष-पर तनमनमें विकार उत्पन्न करके ये सात्विक भाव स्वतः स्फु-रित होते हैं। अनुभाव और सात्विकमें यही पार्थक्य है, अनु-भव वाली क्रिया बुद्धिपूर्वक की जाती है। सात्विक उद्योग न करनेपर भी स्वतः प्रगट हो जाती हैं।

हर्ष, गर्व, चिंता स्मृतो, मति धृति अरु निर्वेद।
तर्क संक पुनि दीनता, सब संचारि सुवेद ॥११४॥

शब्दार्थ :—ऊपर गिनाये गये १० संचारीमेंसे चारके अर्थ पिछले दो० १०८ की टीकामें लिख आये हैं। शेष छः के शास्त्रीय पारिभाषिक अर्थ यहाँ लिखे जाते हैं।

हर्ष=इष्टदेवके दर्शन, उनकी चर्चाश्रवण आदिसे उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता। गर्व=अपने सौभाग्य, अलौकिक गुण, आदि पाकर दूसरोंकी अवहलना करना गर्व कहाता है।

चिन्ता=अनिष्ट वस्तु पानेपर तथा अभिलषित वस्तु न पानेपर जो विचार होता है, वही चिन्ता है। स्मृति=श्यामघन, कमल आदि देखकर, प्रियतमके अंगवर्ण तथा नयनादि अंगोंका स्मरण हो जाना स्मृति है। संक (शंका)=अपनेमें मिथ्या कलंक लगनेपर अथवा औरोंसे अपने अनिष्टकी सम्भावनापर शंका होती हैं। दीनता (दैन्य)=दुःख, अपराध, त्रासपर, अपनेको नीच मानना दैन्य है।

भावार्थः— दास्यभावकी प्रीतिको सुदृढ़ बनानेके लिये शास्त्रोक्त तैंतीसों सचारीभाव समयपर तरंगकी भाँति उत्पन्न और लीन होते रहते हैं। उनमें हर्ष, गर्व, चिन्ता, स्मृति, मति, धृति, निर्वेद वितर्क, शंका, और दीनताके नाम गिनाकर शेषको 'सब' शब्दसे जना दिया।

जिय प्रभुता को ज्ञान पुनि संभ्रम आदर दान।
स्वामि भाव करि प्रीति यह थाइ भाव जिय जान ॥११५

भावार्थः— अब दास्य रतिका स्थायी भाव कहते हैं। ऐसे तो दास्यरतिका शास्त्रीय नाम है प्रीति भक्तिरस, परन्तु यहाँ उसकी व्याख्या है। इस दास्यरतिमें भक्तको अपने इष्टदेवकी प्रभुता तथा ऐश्वर्यका ज्ञानबना रहता है। उनका संभ्रम अर्थात् भयबना रहता है, कहीं किसी अपराधपर कुपित न हो जाँय। अपने प्रियतम इष्टको अधिकसे अधिक आदर सम्मान प्रदान करें। वह स्वामी है, सेव्य हैं; मैं उनका सेवक हूँ, दास हूँ। इस भावसे दास्यरति भावित रहता है।

प्रथमहिते मिलरामको, दर्शन ही सो प्रयोग।
दर्शन पुनि अंतर पड़ै, ताकहँ जानि वियोग ॥११६

भावार्थ:— रसग्रन्थोंमें चारप्रकारके वियोग मानेगये हैं। १–पूर्वरागमें मिलनके पहलेही मिलनेकी छटपटी उत्पन्न होती है। २–प्रवासमें मिलकर बिछुड़ जाना तीव्र वियोग कहा जाता है। ३–मान करनेसे भी वियोगज कष्ट होता है। ४– प्रेम वैचित्यीमें संयोग दशामें भी वियोगकी आशंकासे वियोग समान ही कष्ट होताहै। यहाँ दूसरे प्रकारका तीव्र कष्टदायक वियोगकी चर्चा है। पहलेसे अपने सेव्य स्वामीके दर्शन करके संयोगानन्द (प्रयोग) लूटते थे। अब वह दर्शन नहीं होते। कोई अंतर पड़ गया है। अत: बड़ी बेचैनी है, उनके बिना। यही है संयोगोत्तर वियोग।

वियुत युत दोइ योगमें, यह दस दसा बखानि।
कृशता जड़ता, जागरन, अनालंब धृति हानि ॥११७॥
ज्वर तापादिक व्याधि पुनि, जरनि अंग सो जानि।
बाढ़ै चित उनमत्तता, मूर्च्छा मरन निदान ॥११८॥

शब्दार्थ:— वियुत=वियोग। युत=संयोग। कृशता= शरीर दुबला जाना। जड़ता=निश्चेष्ट होकर जड़ समान बन जाना। जागरण=नींद नहीं आना। अनालंब=दंपति छबि अवलोकि अहर्निश जीवति मधुर अली। अब वियोगदशामें दर्शनका अवलंब छूट गया। आश्रयहीनकी दशा है। धृति हानि=अधीर हो जाना। व्याधि=ज्वर ताप आदि शारीरिक रोग। अंग जरनि

=अंगप्रत्यंगमें जलन ताप। उम्मत्तता=पागलपनी। मूर्च्छा=बेहोशी। मरन=मृत्यु। निदान=अंतमें।

भावार्थः— दास्यरतिमें संयोगके पश्चात् जो दूसरी वियोग दशा आती है उसमें तीव्र कष्ट होता है। उस कष्टके मारे दश नीचे लिखी दशाएँ दास भक्तके अंगोंमें प्रगट होती हैं।

१- कृशता, २- जड़ता, ३- जागर्या, ४- अनालंब, ५- अधृति, ६- व्याधि, ७- अंगताप, ८- उम्माद, ९- मूर्च्छा, और १०- मृति (मरण)।

ये दश। दाशाएँ आगे वर्णन होनेवाले सख्यप्रेम, वात्सल्य स्नेह तथा शृङ्गारपरक अनुरागमेंभी पाई जाती हैं। वर्णन आवेगा।

❀ सख्य रति के रसांग ❀

अब वरनत हौं सख्य के, अनुभावादिक धर्म।
सखा चारि विधि जानि सो, सुहृद सखा प्रिय नर्म ॥११९।

भावार्थः— दास्यरति वर्णनकर चुकनेपर पूज्य चरण श्रीग्रन्थकर्त्ताजू अब सख्यभावमयी रतिका, रसांगरूप अनुभाव विभाव, सात्विक संचारी आदिके लक्षण (धर्म) लिखते हैं। स्मरण रहे कि सख्य रतिके नाम रसग्रन्थोंमें प्रेयोभक्तिरस या मैत्रीमय रसभी लिखे हैं।

सखा चार प्रकारके होते हैं। १- सुहृद सखा, २-सखा, ३- प्रिय सखा तथा ४-- नर्म सखा।

सुहृद सखा सो अधिक वय, वत्सलता करि युक्त।
कछुक न्यून वय सो सखा, दास्य धर्म करि उक्त ॥१२०॥

तुल्य वयस सो प्रिय सखा, नर्मसखा लखु सोइ ।
रमनि रूप धरि रमन को, जिय लालसा सु होइ ॥ १२१ ॥

भावार्थ: — अब चारो प्रकारके सखाओंके पृथक पृथक वयक्रम, प्रेयोरस वैविध्य आदि लिखते हैं।

१– सुहृद सखा श्रीरघुलालजीसे अवस्थामें बड़े होते हैं। इनका सख्यभाव वात्सल्य मिला होता है। आखेटादि कालमें ये अस्त्रशस्त्रोंसे युक्त होकर रघुनाथजीसे आगेआगे चलते हैं। कहीं इनका अनिष्ट न हो; अत: प्राणोंकी बाजी लगाकर इनकी रक्षा करते हैं। इनके कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका उपदेश देते तथा सर्वदा इनके हित साधनमें तत्पर रहते हैं। शयनकालीन अंग संवाहनमें ये मस्तक दबाते हैं। लालजी द्वारा चरण छूकर प्रणाम करनेपर माथा सूँघकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं। इस कोटिके श्रीराघव सखाके नाम हैं —सर्व श्रीअहिबल, जयसिंह, वीरमणि, जयमंगल, सुखमाली, धर्मशील, दृढ़व्रत, वीरव्रत, राजसिंह, जयमाली आदि।

२– सखा मात्र कहानेवाले आपसे छोटी अवस्था वाले होते हैं। इनका सख्यस्नेह छोटे भाइयोंकी तरह दास्यभाव मिश्रित होता है। शय्यारचना, पादसंवाहन, पंखा झलना आदि इनकी सेवा होती है। इनमें सुदक्षिण, वीरभानु, लोकवीर, यशमाली, कीर्तिबाहु, यज्ञसेन, रणकेलि मणि, रणपाली, प्रभाशील, आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

३–प्रियसखा:— समान अवस्था वाले होते हैं। श्रीलाल-जूके साथ अनेकों केलिपूर्वक रमण करते हैं। इनमें निस्संकोच

ढिठाई होती हैं। राघवजूके साथ मल्लयुद्ध करेंगे। हाथसे पुष्पादि छीन लेंगे। वस्त्र पकड़ खींचते हैं। मंत्रीवत् कान लगाकर बतियायेंगे। इनमें श्रीप्रतापी, शुकमणि, सुशिरा, दीर्घबाहु, वीरकर्मा, अतिविक्रर्मा, मोहनांक, सुमाली, शीलमणि आदि नाम उल्लेखनीय है।

४- नर्मसखाः— दिनमें सखावत् व्यवहार, रातमें रमणी रूप धारणकर रासादिक विहारका सुखास्वादन करना इनका कार्य होता है। श्रीलालजूके दूत बनकर मानवती नायिकाका मान-मोचन, क्रीड़ा कलहमें प्रियतमपक्ष लेना, प्रियतमके कान लगाकर बतियाना इनकी चेष्टा चातुरी है। इनके नाम सुन्दरास्य, अमृत-अमृताधर, कामतंत्र' सुस्मित बदन, प्रियादर, मोहनाक्ष, गुप्तकेलि, नव्यांग प्रियंवद, प्रेमशील, मोहनास्य, प्रेमनिधि, नव्यशील आदि उल्लेखनीय है।

मरम सलोने नेहनिधि रघुबर बड़े सुजान।
इत्यादिक गुन आश्रयन सो आलंबन जान ॥१२२॥

भावार्थः—अब सख्यभक्ति रसके आश्रयालंबन विभाव का परिचय कराते हैं। श्रीअवध सुन्दरजूका चराचर बिमोहन-रूप तो सबोंके लिये आकर्षक हैं ही, परन्तु इनमें जिन जिन गुणोंसे प्रभावित होकर, बालकगण इनमें सख्य या मैत्र्यभाव की स्थापना करते हैं, वे ही इनके स्नेहके आलंबन हैं वे गुण हैं—श्री रघुलालजूके स्नेहशील हृदयमें प्रेमरस का प्राचुर्य, आपके इन्द्रनीलमणिके समान कान्तिमान श्री विग्रह के अंगअंग से लुनाई

चू रही हैं। दर्पण के समान प्रतिविम्ब ग्राही है श्री अंग। स्नेहके तो अपार सिन्धु हैं आप। आप त्यागवीर, दयावीर, विद्यावीर तथा पराक्रमवीर होने से रघुबीर नामको सार्थक करते हैं।

"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ॥

अतः आप परम सुजान हैं।

चपल तुरंगनि फेरनी, मृग तकि मार्गनि बानु।
करि प्रन लच्छनि बेधनी, सब उद्दीपन जानु॥१२३॥

भावार्थः—सखागण वायुवेगके समान चंचल घोड़ोंपर चढ़कर उन्हें कलापूर्वक नाना गतियों के साथ दौड़ाते हैं। मृग शब्द में बाघ, सिंह, गैंडे, बनैले भैंसे, सूअर आदि सभी वन्य हिंस्र पशु आ जाते हैं। सघन वनमें शिकारकरते समय इनपर निशाना तिकाकर बाण प्रहार करते है। किसी दूरस्थ सूक्ष्म चिन्ह को अपना निशाना (लक्ष्य) बनाते हैं। अपने फेके हुये बाण की नोक को ठीक उसी चिन्ह में घुसा दूँगा। ऐसा उन्हें अपनी बाण विद्या पर दृढ़ विश्वास होता है। अतः प्रण करते हैं कि लक्ष्य वेधन नहीं करूँ तो आजसे अमुक त्याग दूँगा। ये सभीकार्य उनके सख्यरतिके उत्तेजित करनेवाले उद्दीपन विभाव कहाते हैं।

धरि गलभुज बतरावनी, इक संग भोजन सैन।
अनूभाव यह सख्यके, सबविधि सुखके ऐन॥१२४॥

भावार्थः— अब सख्यस्नेहके परिचायक इन सखाओंकी

चेष्टाओंका वर्णन करते हैं। श्रीरघुलालजूके साथ गलबहियाँ देकर घुलघुलकर मीठी--मीठी बाते करेंगे। बिना मित्रके भोजन नहीं। कितनाभी स्वादिष्ट पदार्थ कोई दे, उनके बिना अकेले खानेमें रुचेगा नहीं। अपने गृहके सुखद शयनको छोड़कर मित्रके साथ चाहे जैसेभी सोना पड़े, स्वीकार है। क्षणमात्रभी उनसे पृथक रहना असह्य है। इनकी इन्हीं क्रियाओंको देखकर समझ लीजिये कितना अगाध सख्यस्नेह भरा है इनमें। अतः सख्यभक्ति रस सबप्रकारसे सुखनिधान हैं।

पूर्व कहे तं सात्विका, रोमांचादिक अत्र।
हर्ष गर्व आदिक सकल, संचारिहु जो तत्र ॥१२५॥

भावार्थः— स्तंभ, खेद, रोमांच, स्वरभेद, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। ये आठों सात्विकभाव यही रोमांचादिकसे सूचित हुये। पहलेभी इनके नाम आ गये हैं। यहाँ अब सख्य-भक्तिरसमें भी ये आठों समय-समयपर प्रगट होते हैं। हर्ष गर्व आदिकसे तैतीस संचारी भावोंके नाम दोहा १०८ की टीकामें गिनाये गये हैं। तहाँ (तत्र) सख्यभावमें सभी संचारी संभव हैं। यहाँ सख्यभक्ति रतिमें तैतीस संचारी भावोंमें अधिकांश संभव होते हैं, इसी दृष्टिसे यहाँ 'सकल' शब्द कहा गया है। प्रेमसुधा रत्नाकारमें तीन संचारी भावोंको सख्यरतिमें असंभव बताया है।

'संचारी यहि माँझ सब, वर्जित तीनि लखात।
औग्रय, ताप, आलस्य एक, कविजन बरनत जात ॥'

वियोग दशामें पाँच नहीं प्रगट होते तथा संयोग कालमें भी अन्य पाँच नहीं दीख पड़ते । यथा—

'हर्ष, गर्व मद, नींद धृति, ये वियोग में नाहि ।
मृति क्लम व्याधि अपस्मृती, दीन योग नहि आहि ॥'

सख्य रती स्थाइ पुनि, प्रनय प्रेम अरु नेह ।
अनूराग अस जानिये, मनो एक दुइ देह ॥१२६॥

भावार्थः— सख्यभाव वालोंमें प्रारंभिक अवस्थामें जो स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उसे सख्यरति या प्रेयो भक्तिरस कहेंगे । पुनः उसकी वृद्धि होते-होते क्रमशः प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा अनुराग तक पहुँच जाता है । श्रीराघवलाल तथा उनके सखामें पारस्परिक इतना मैत्र्य देखा जाता है मानों दोनों एकही प्रेमतत्त्व के दो मूर्तिमान स्वरूप हों ।

प्रणयदशा कहती है श्रीरघुलालजूके पिनाक भंजन, तारका वध आदिक ऐश्वर्य देखकर इन सखाओंके प्रेममें न तो भय न संकोचकी मिलावट हो पाई ।

प्रेममें बाधक प्रसंग उपस्थित होनेपरभी न्यूनता नहीं होती । सखाओंको त्यागकर वन लीला, रण लीला हुई । तो क्या इनके प्रेममें कोई अभाव आया ?

स्नेहदशा प्राप्त होनेपर चित्त द्रवित होता है तथा दर्शनादि से तृप्ति नहीं होती । "दरसन तृप्ति न आजु लागि, प्रेमपियासे नैन ।

अनुराग दशामें सख्य स्नेह नित्य नव्य नकायमान होता रहता है ।

दशा वियोग प्रयोग में, पूर्व कही दस सोइ ॥

भावार्थः— संयोगोत्तर वियोग तीव्र होता है। इनमें वही दश दशाएँ क्रमशः उत्पन्न होती रहती हैं। जिनके नाम प्रथम कथित दोहे ११७ तथा ११८ में गिनाये गये हैं। अर्थात् कृशता, जड़ता, जागरण, अनालंब, अधृति, व्याधि, अंगताप, उन्माद, मूर्च्छा, तथा मृति।

❀ वात्सल्यरसके अंग ❀

अब वत्सल रस कहत हौं, करि विवेक सो जोइ ॥

भावार्थः— अब वात्सल्य रसके अंगोंका वर्णन करेंगे। वर्णित दृष्टिकोणसे विवेचन करते हुये, वात्सल्य भक्तिरसका स्वरूप देख लीजिये (जोइ) अर्थात् समझ लीजिये।

अति सुकुमारे सुलच्छनै, विनयी शील सुभाव।
यह गुन हैं रघुनाथ कै, सो आलंब विभाव ॥१२८॥

भावार्थः— विषयालंवन विभाव श्रीरामलालजूमें कुछ अनोखेगुण हैं, जो आपके लालकपालक मातापितादि गुरुजनोंमें वात्सल्यस्नेह बढ़ानेके अधारहैं। इन्हें आश्रयालंवन बिभाव नामसे अभिहित किया जाता है।

आपके इन्दीवर श्यामांगमें भीतर बाहर इतनी अधिक कोमलता है कि क्या नवनीत, क्या सीरिषकुसुम सभी विलज्जित हो जाते हैं। इनके अंगोंमें सभी सामुद्रिक शास्त्रोक्त सुलच्छण दीख पड़ते हैं। कितने सरल, संकोची एवं विनयी स्वभाव है इनका ! गुरुजनोंको अधिकसे अधिक आदर प्रदान करनेका शील है।

इन्हीं गुणोंको देखकर गुरुजन इन्हें अनुग्राह्य, एवं लाल्य मानते तथा कोटिकोटि भाँतिसे इनका दुलार करते हैं।

मृदु हँसि तोतरि बोलनी, औरौ बाल सुभाव।
यह गुन सब रघुनाथके, सो उद्दीपन विभाव ॥१२६॥

भावार्थ:—मातापितादि गुरुजनोंसे बोलते समय कोमलांगजूकी वाणीभी अत्यन्त कोमल हो जाती है। हँसते-हँसते तुतला-तुतलाकर बोलना मातापिताको स्नेहाधीर बनाये देती है। १८ शैशवावस्थाका चंचल स्वभाव वात्सल्य स्नेहमें और चार चांद लगा देते हैं। ऐसीऐसी मनोरम बालकेलि श्रीरघुलालजूके उद्दीपन विभाव हैं।

अंग पोंछि पुनि अंक लै, करब मस्तकाघ्रान।
लालन पालन सकल विधि, सो अनुभाव बखान ॥१३०॥

भावार्थ—श्रीकौशल्याअंबाजी आपके बालकेलि कालीन धूल धूसरित अंगोंको अपने आँचरसे झारती पोंछती है। पुनः गोदमें बैठा लेती हैं। आपके मंगलबृद्धिके लिये आपका माथा सूँघती है। माथा सूँघना तांत्रिक टोटका है। उबटन लगाकर स्नान कराती हैं। अपने करकंजोंसे इनका शृंगार करती हैं। भाँति-भाँति सुरुचिकर मिष्ठान्न पकवानोंको दुलरा-दुलराकर खवाती हैं। सुन्दर कोमल शय्यापर सुलाती हैं। ये सब आपके लालन कार्य हुये। पुनः आपको अनिष्टोंसे सुरक्षित करनेके लिये आपके श्रीअंगोंमें रक्षामन्त्रोंसे न्यास करती हैं, माथेपर रक्षातिलक

की रचना करती हैं, भुजाओंपर रक्षौषधि यन्त्ररूपमें बाँधती है। ये सब आपके पालन कार्य हैं।

माता-पितामें पाये जाने वाली दुलार प्रक्रियायें इनके वात्सल्य स्नेहके परिचय देनेवाले अनुभाव हैं।

पूर्व कहे ते सात्विका, संचारिहु पुनि सोय।
दसा वियोग प्रयोगमें, पूर्व कही दस जोय ।१३१॥

भावार्थः— वात्सल्यरति वाले श्रीरामभक्तोंमें भी स्तम्भ स्वेद आदिक वही दशो सात्विक दशायें प्रगट होती हैं, जिनके नाम दोहा १०७ में गिनाये गये हैं। संचारी इनमेंभी वही तैंतीसों क्रमशः तरंगायमान होती हैं। इनमें मोहका अधिक उद्रेक होता है। संयोगान्त वियोगमें इनमेंभी दोहा ११७, ११८ में गिनायी गयी दश दशायें समय-समयपर प्रगट होती हैं।

वत्सलता स्थायि पुनि, प्रनय प्रेम अरु नेह।
अनूराग अस जानिये, बिछुरे रहे न देह ॥१३२॥

भावार्थः— प्रस्तुत भक्तिरसमें स्थायीभाव है अनुकंपाकारी वात्सल्यरति। रति अवस्थामें यह वात्सल्यभाव नवांकुरित होता है। क्रमशः विश्वास प्रधान प्रणयका, पुनः, अटूटममतापूर्ण प्रेम, तत्पश्चात् अतृप्तदशा वाला द्रवणशील स्नेहके अन्तमें नित्य नव-नवायमान होनेवाला अनुराग जागता है। यह प्रेमदशा इस भाव वालेका इतनी उत्तेजित होती है कि बिछुड़नेपर शरीरांतही हो जाता है।

"बंदो अवधभुआल, सत्य प्रेम जेहि रामपद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥"

❀ शृङ्गार रस ❀

अब बरनत हौं ललित रस, ललिताई की खान।
ललित चित्त धारन करै, रुच्छ चित्त नहि मान ॥१३३॥

शब्दार्थः— ललितरस = शृङ्गाररस। रुच्छ = रूखासूखा।

भावार्थः— अब मधुर रसका वर्णन करते हैं। यह तो रसकी खानही है। इसके अधिकारी हैं सरसचित्त वाले रसिक संत। इन्हींके हृदयमें यह रस जमेगा भी। रूखे-सूखे विषयी, कर्मकांडी, ज्ञानमार्गीको इसमें आस्थाही नहीं होगी।

झब्बे झुकत कपोल पै, बिलसत अधर बुलाक।
सिर सुरंग पगिया लसन, तुर्रे कलँगि झुलाक ॥१३४॥
अंसन पर अलकैं लसत, भुज अंगद छबि देत।
छुरा छबीलो फेंट में, चित्त चुराये लेत ॥१३५॥
खञ्जन सफरी से चपल, अनियारे युग बान।
जनु युवती एनी हतन, भौंह चाप संधान ॥१३६॥
ललित कसन कटि बसन की, ललित लटकनी चाल।
ललित धनुष कर सर धरनि, ललिताई निधि लाल ॥१३७।

शब्दार्थः— झब्बे = गुच्छे बुलाक = नाशामणि। सुरग = लाल। तुर्रे = फुदने। कलंगी = चिड़ियाका पंख। अंसन = कंधों सफरी = मछली। अनियारे = नुकीले, पैने। एन = मृगी। संधान = निशाना लगाना।

भावार्थः - रसिक भक्तोंकी दृष्टिमें श्रीरघुलालजूके अंग-अंगकी सजावटसे रमणीयता चू रही है।

श्रीराजदुलारेजूके मनोहर माथेपर लाल पाग कैसा फब रहा है! उसमें लगे गुच्छे कपोलों तक लटक रहे हैं। उसमें फुदने झूल रहे हैं। सिरपेंच कैसा मजा दे रहा है? अधर पर नाशामणि लटकती देखकर जी तरसता है।

दोनों कंधोंपर जुल्फ लटें लटक रही हैं। भुजाओंपर अङ्गद नाम भूषण सजे हैं? कटिकाछनीमें क्षत्रियकुमारोचित मनोज्ञ छुरा खोंसे हुये हैं। जो जंघातक लटक रहा है। इसकी शोभा मनमोहनी है।

आपके नयन रमणीरूप दर्शनमें ऐसे चंचल हो रहे हैं, जिनके सामने खंजनपक्षी एवं छोटी मछलीकी चंचलता झूठी लगती है। नयन क्या हैं- मानों दो नुकीले तेज बाण हैं। मानों नवयौवना नायिका रूपी मृगीको वध करनेके लिये, भौंह रूपी धनुषपर चढ़ाकरनिशाना तिका रहे हैं।

कटितटमें काछनीकी मनोज्ञ कसन फब रही है। रसीली गतिसे लटक-लटककर मनहरनी चालसे झूम-झूमकर चल रहे हैं। करकंजोंमें धनुषबाण सुशोभित हो रहे हैं। श्रीअवधेशलालजू रसिकताकी तो खानही हैं।

ललिताई रघुनन्द की, सो आलंब बिभाव।
ललित रसाश्रित जननको, मिलन सदा मनु चाव ॥१३८॥

भावार्थः-श्रीरघुनन्दन चितफंदनजूकी ऊपरि वर्णित सरसता

ही विषयालंबन विभाव है। मधुर रसके आश्रयण करनेवाले रसिक भक्तही आश्रयालंवन है। उन्हें यह हृदयहारिणी राघव शोभा उनसे मिलनेकी छटपटी (चाव) जगाती है।

कोकिल शब्द बसंत रितु, सो उद्दीपन जानु।
मंद हसनि दृग फेरनी, सो अनुभाव बखानु ॥१३९॥

भावार्थः— दिव्य प्रमोदवनमें बारहमास दिनमें बासंती एवं रातमें शारदीय शोभा सरसती रहती है। सो बसंत बिलास एव कोयलकी काकली दिव्य शृङ्गारमय प्रणयको उद्दीप्त करने वाली हैं।

सौन्दर्य माधुर्य सुधासिंधु रघुनन्दजूके दर्शनोंसे रमणियोंके हृदयमें उल्लसित प्रीतिके परिचय देनेवाले अनुभाव हैं-- मंदमंद मुसकान एवं चंचल कटाक्षक्षेप।

पूर्व कहे ते सात्विका, सबै सुदिप्त जानु।

भावार्थः— पहलेभी स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, अश्रुपात आदि आठ सात्विकोंके नाम गिनाये गये हैं। यहाँ इस मधुर रसमें भी वे सभी समय समयपर उदित होते हैं। किन्तु यहाँ इनमें कुछ विशेष चमत्कार हो जाता है। धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सुदीप्त उत्तरोत्तर अधिकाधिक रूपसे चमत्कृत पाँच प्रकारके सात्विक भावोंका विवेचन श्रीहरिभक्ति रसामृत सिन्धुमें विस्तारसे किया गया है। सुदीप्त सर्वाधिक प्रकाशित सात्विक है। रसिकों के सर्वोच्च प्रेमदशामें ही इनके चमत्कार दर्शित होते हैं।

उग्र अरु आलस्य बिनु, संचारिहु अनुमानु ॥१४०॥

भावार्थः— तैतीस संचारीके नाम दोहा १०७, १०८ की टीकामें गिना आये हैं। उनमें और संचारी तो यहाँभी तरंगित होती हैं, किन्तु उनमें दो यहाँ नहीं रहते। उग्रता और आलस्य। किसी अपराधीको मारने, वध करनेके लिये प्रचण्डरूप धारण करनेको उग्रता कहते हैं। यहां परम सुकुमार प्रेमी प्रेमिकामें उग्रता कहां? मानदशामें भी सुकोमल वचनों द्वाराही उपालंभ मात्र देखियेगा।

रतिश्रमसे तृप्त होनेपर आलस्य प्राकृत स्थूल शरीरमें दीखताहै। यहाँ सदैव अतृप्तप्रेयसी एवं रमणलालमें कभी थकावट आती न आलस्य। अतः यहाँके संचारीमें दोनों छूँटकर केवल एकतीसही रह जाते हैं।

स्थायी प्रियता रती, प्रनय, प्रेम अरु नेह।
अनूराग असपरसपर, वारत तन मन गेह॥ १४१॥

भावार्थः— मधुर भक्तिरसमें स्थायी भावको प्रियतारति अर्थात् दाम्पत्यस्नेह कहते हैं। यहाँ जड़ अकुंरित होकर, शाखा प्रशाखा फूलफल रूपमें क्रमशः प्रणय, प्रेम और स्नेह तक इसका विकाश होता है। यहाँ प्रेमकी सर्वोच्च भूमिका अनुराग दशामें एक अपूर्व विलक्षणता होती है। पारस्परिक स्पर्श सुख पाकर इतना निरतिशय रसानन्दकी अनुभूति होती है कि जी करता है कि अपने अपरिमित सुखदायककपर तन, मन, धन सब कुछ लुटा देवें। यहाँ गेह अर्थात् घर शब्द गृहकी सम्पति राशिका सूचक है।

दशा वियोग प्रयोग में, पूर्व कही दश होय ॥

भावार्थ:— यहाँभी संयोगान्त वियोगमें जड़ता, कृशता आदि पूर्वोक्त दश दशाएँ उत्पन्न होती हैं।

❀ रसवैरी मित्रता वर्णन ❀

अब रस रिपुतामीतता, कहौं जहाँ जस होय ॥१४२॥
मैत्री शान्त रु दास्य के, अरस परस सो जानु।
वत्सल सख्य तटस्थ दोउ, सुचि सपत्न अनुमानु ॥१४३
सख्य अरू शृङ्गार दोउ, अरस परस लखु मीत।
शान्त रु वत्सल दोउ यह, सुचि सों अति विपरीत ॥१४४
सुचि सपत्न दोउ सख्यके, लखु तटस्थ नहि मीत।
वत्सल रस कोउ रसन सों, राखत नहि हिय हीत ॥१४५
द्वौ द्वेषन लखु परसपर, दास्य अरु शृङ्गार।
रिपु रसांग धारे नही, इहि विधि जाननहार ॥१४६

शब्दार्थ:—तटस्थ = उदासीन, न शत्रु न मित्र। सुचि = शृङ्गार रस। सपत्न (सापत्न्य) = सौतिया डाह, वैर। विपरीत = शत्रु हीत = प्रेम।

भावार्थ:—शान्तभाव एवं दास्यभाव दोनोंमें इष्टकेप्रति ऐश्वर्य ज्ञानाधिक्य होता है। उनके समक्ष अपने को बहुत लघु माना जाता है। अत: दोनोंमें परस्पर मैत्री है। पुन: इन दोनों से वत्सल रस एवं सख्य रस तटस्थ रहते हैं। इन्हें शृङ्गार रससे वैर है। क्योंकि अन्त:पुर विहार देशमें उनका प्रवेश निषेध है। ब्रह्मसे जीवका समत्व व्यवहार भी इन्हें रुचता नहीं होगा।

सखा प्रियतम मित्र, सखी प्रियामित्र। अतः युगल-किशोर के मित्रोंमें पारस्परिक मैत्र्यभाव स्वाभाविक है। यही कारण है कि सख्य रस और शृङ्गाररसमें मैत्री है। परन्तु शृङ्गाररससे शान्तरस वैर रखता है। यह पहले कह आये हैं। वात्सल्यरसभी शृंगाररसका बैरी है। क्योंकि मातापितादि गुरुजनोंके सामने दाम्पत्य हिलन मिलनादिवैहारिक व्यवहार संकोच को प्राप्त होते हैं।

शुचिरस अर्थात् शृंगाररस तथा सख्यरस दोनोंहीसे वत्सलरस सापत्न्य अर्थात् वैर रखता है। तटस्थ भी नहीं, मित्रभी नही है। सचपूछो तो, वत्सल रसको किसीभी रसके प्रति हृदयमें मैत्र्य भाव नहीं है। दास्य और शृंगार भी परस्पर वैमनस्य रखते हैं।

इस प्रकार रसके मित्र और शत्रुको समझने वाले अपनी भावनामें अपने उपास्यरसके साथ शत्रुरस को नहीं मिलाते। यथा श्रीरघुलाल जब प्रातःकाल मातृपितृ दर्शन को महलसे बाहर जाते तब साथमें न तो प्रियाजू जातीं, न उनकी कोई सखी। दासों से बाहरी सेवा कराने काल, सरयूतट में एकांत भजन करने वालोंसे मिलन समयभी यही बात रहती है।

❀ रसाभास विमर्श ❀

रसाभास तब शान्त के, समता बुद्धि विनास।
निज प्रभु निकट जो धृष्टता, रसाभास सोइ दास॥ १४७

यथा दूजनके मध्यमें, एक सखा इक दास।
तब जानब जिय सख्य की, भई रीति आभास ॥१४८

पुत्रादिक वय अधिक लखि, लालनादि की हानि।
रसाभास वात्सल्य को, तब लीजै पहिचानि ॥१४६

रसाभास शृङ्गार के, तब पुनि जिय अनुमान।
विहरन इच्छा एकके, एक नहीं मन मान ॥१५०

भावार्थ:—शान्तभावके भक्त "देख ब्रह्म समान सब माही" उनकी दृष्टिमें "सीयराममय जग" है। अत: न उन्हें किसीमें राग, न द्वेष। ऐसे समत्व भाव में व्यतिरेक हो जाय, रागद्वेष के चक्कर में पड़ जायँ, तो उनकी शान्त रसमयी भक्ति विकृत हो जाती है। रसफट जाता है और हो जाता रसाभास।

दास्यभाव वाले भक्त अपने सेव्य प्रभु श्री जानकीजीवनजूमें परम प्रभुता तथा अपनेमें लघुता देखकर उनके सामने सभयं एवं सकोची बने रहते हैं। यदि ढिठाई करें, तो दात्यभक्तिरस विकला होकर रसाभास में परिणत हो जाता है।

दो भक्तोंमें एक सख्य भाववाले दूसरे दास्यभाव वाले हैं। पटरी कैसे बैठे? सखा श्री रघुचंद जू को अपनी बराबरा श्रेणी के मानते हैं। उनके प्रेम कलह में कहासुनी, उठापटक, सब प्रकार की ढिठाई होती है। उनके निकट दास रहेंगे, तो उन्हें ऐसी ढिठाई कब सहन होगी? अत: दासके संग से सख्यरस विकल होकर रसाभास हो जाता है।

वत्सलभक्ति रसके लाल्यपाल्य श्री राघव जू का कौमार बयक्रम पाँच वर्ष तक अधिक उपयुक्त होता है। उनकी तुतली बोली, शैशव चापल्य, मंदमुसकान वात्सल्य स्नेह को उद्दीप्त करती रहती है। श्री राघव जू सदैव उनके सामने होते ही पंच वर्षीय बालक बनकर उन्हें वात्सल्य सुख देते रहते हैं। यदि अधिक अवस्था उनकी देखलें, तो वैसा लाड़ दुलार बनेगा नहीं। वत्सल भक्तिरसका आभास मात्र रह जायगा।

शृंगार रस जमता है तब जब नायक नायिका दोनोंका मन मिल जाय। क्या हुआ यदि सूर्पनखा श्रीराघव सौन्दर्य पर काममोहित हो गई ? इधरसे स्वीकृति तो हुई नहीं। यही शृंगार रस का रसाभास है।

❁ सर्व रसाश्रय रघुनन्दन ❁

श्रुति भगवती ब्रह्म को 'सर्वरसः' कहती हैं। परात्परतम अनादि ब्रह्म श्रीअयोध्याविहारीमें यह श्रुतिवचन चरितार्थ होता है। जब आप श्री प्रमदावनकी रमणियोंके मध्य हासविलास करते हुए दक्षिण धीरोदात्त नायक की भाँति स्थित होते हैं, तब आप शुचि अर्थात् शृंगार रस के मूर्तिमान विग्रह प्रतीत होते। "जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप।" जब आप विदग्ध लीला करते हुए, अद्भुत विहार विलास प्रगटित करते हैं उस समय आप अद्भुत रसके स्वरूप प्रतीयमान होते हैं। नर्म हास परिहास कालमें आप हास्यरस के आश्रयावलंबन वत् भाषित होते हैं। शृंगाररसके अङ्गभूत अद्भुत और हास्य हैं।

वनिता वृन्दन मध्य जब, रघुवर करत विलास।
सुचि अरु अद्भुत हास्य यह, तीनों रसन निवास ॥१५१

आखेटक अस्त्र शस्त्रों से लैस, चपल तुरंग पर आरूढ़, रघुकुलनायक सखेन्द्र राघवेन्द्र, जब सखासमूहमें हास परिहास करते हुये विराजते हैं, उस समय आप में सुख बरसाने वाला प्रधानतः सख्यरस तथा गौण रूप से हास्यरस, युद्ध वीर, धर्मवीर रस निवास करने हैं। तुरंग फेरनिका अद्भुत कलाकौशल आपमें अद्भुतरसका भी प्रतीत कराता है।

सखा मंडली मध्य जब, विलसत रघुकुल चन्द।
वीर रु अद्भुत हास्य पुनि, मुख्य सख्य सुखकंद ॥१५२

भृत्यवत्सल गुणनिधान राघव सुजान जब दासगणों के मध्य में मुसाहिब रूप से विराजमान होते हैं तब तो आप उन सेवकोंपर ऐसे वात्सल्य स्नेह दिखाते हैं कि सभी भृत्यवृन्द आनन्द मग्न हो जाते हैं।

पुनिपुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

दास्य परीकर मध्य जब, राजत गुणनिधि राम।
वात्सलताको प्रगट करि, देत सबनि अभिराम ॥१५३॥

पुनः श्रीवशिष्ट आदि मुनिजनोंके मध्य ब्रह्मण्यदेव रघुवंश विभूषणजू समुपस्थित होते हैं। तब आप उनके प्रति सब प्रकारसे सेवकाईका भाव दिखाते हैं। श्रीपरशुरामजीके प्रति श्रीमुख वचन "नाथ संभु धनु भंजननिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥"

उन लोगोंके हृदयमें परमानन्दका विस्तार करते हैं तथा स्वयं भी विप्र सेवकाईमें आनन्दानुभव करते हैं । विप्र सेवामें आपका उत्साह (चाव) अधिकाधिक बढ़ता ही रहता है ।

पुनि वशिष्ट आदिकन के, निकट दास्य अनुभाव ।
करि आनंदित करत अति, हिये बढ़ावत चाव ॥१५४॥

इसीसे तो कहते हैं कि सभी रसोंके निवास गृह एकमात्र रसिक शिरोमणि रघुनन्दन ही हैं । यह रहस्य (भेष) आप रसिक महानुभावोंसे समझिये । औरोंको तनकभी रसकी जानकारी नहीं है ।

रसिक सिरोमनि रसन गृह, रघुनंदन अति एव ।
रसिक संग बिनु नेकहूँ, जानत नहिं यह भेव ॥१५५॥

❁ फल श्रुति ❁

यह सिद्धान्त आदित्य इव; बसै जासु उर व्योम ।
द्युति अनन्यता होत, गत मिश्रित मत तमतोम ॥१५६॥

शब्दार्थः— आदित्य=सूर्य । व्योम=आकाश । द्युति= प्रकाश ।

भावार्थः— इस ग्रन्थमें प्रतिपादित सिद्धान्त मुक्तावलीको सूर्य समझें । रसिक साधकका हृदय ही आकाश है । आकाशमें जब सूर्य उदित होते हैं तो प्रकाश फैल जाता है । अन्धकार समूह नष्ट हो जाता है । व्यभिचारी (मिश्रित) मत तो अन्ध-

कार वत छाकर रस मार्गको सूझनेही नहीं देंगे । अतः रसिक हृदयका यह सिद्धान्त सूर्य उनके रसमार्गमें अनन्यताका प्रकाश बिखेरकर व्यभिचारी मत रूपी अन्धकार पुञ्ज मिटा देंगे । रसिकोंको अपने इष्टमें पातिव्रत्य रूप अनन्यता निर्वाह आवश्यक है ।

❀ पुष्पिका ❀

सम्वत सर गिरि वसु अवनि, माघ शुल्क तिथ्यान्त ।
सियाराम शरन के, प्रेरित रच्यो सिद्धान्त ॥१५७॥

शब्दार्थः— सर=कामबाण पाँच होते हैं। गिरि=सात पर्वत प्रसिद्ध है । वसु=आठ । अवनि=पृथ्वी एक संख्या सूचिका होती है। तिथ्यान्त=पूर्णमासी ।

भावार्थः— सम्वतकी गणना प्राचीन परिपाटीसे ऐसे ही सांकेतिक शब्दोंमें तथा विलोम क्रमसे करते हैं । उस रीतिसे गिनने पर ग्रन्थ रचनाका विक्रमी सम्वत् पड़ता है १८७५ । माघ मासकी पूर्णिमाकी तिथिमें इसका समापन किया गया था। आपके किसी सियाराम शरण नामक कृपापात्रने सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ लिखनेकी प्रार्थनाकी थी। उन्हींके बहाने आप रसिक जगत्के लिये यह अनमोल निधि रखगये है। श्रीरसिक प्रकाश भक्तमालके कवित्त ३२४, ३२५ पढ़िये :—

पिया मिलन कब होइ सुरतिया लागि रही।

निसिबासर मोहि नींद न आवै
पलपल कलप लही।

छिनछिन बीतत ज्यों विधिबासर
बिरहकी ज्वाल दही।

रसिक राम सिय बिन देखे
दोउ नैनन चैन नहीं॥

चलु पियाके भवनवाँ
बड़ी भई अब देर री।

पियको भवनवाँ अवधपुर राजै
कनकभवन सुखसेर री।

छोटी बड़ी यों हिलमिल रहिये
ना करिये अनखेर री।

तबतो रसिकपियासों मिलिये
घन घमंडको घेर री॥